सिद्धान्त और समीक्षा

हिन्दी के प्रतिनिधि आलोचकों के सैद्धान्तिक और
समीक्षात्मक लेखों का अपूर्व संकलन

राजकमल प्रकाशन दिल्ली

प्रकाशक—
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
दिल्ली।

प्रथम बार
१९४९
मूल्य दो रुपये आठ आना

मुद्रक—
गोपीनाथ सेठ,
नवीन प्रेस, दिल्ली

क्रम

सिद्धान्त

समीक्षा

सिद्धान्त

एक : : साहित्य क्या है ?

(श्री जैनेन्द्र कुमार)

साहित्य की सृष्टि और साहित्य की आधुनिक प्रगति पर आलोचनात्मक विचार आरम्भ करें, इससे पहले अच्छा होगा कि उस बारे की अपनी जानकारी को हम स्पष्ट कर लें।

'साहित्य क्या है ?' यह प्रश्न उठाकर हम आशा न करें कि उत्तर में वह परिभाषा पा सकेंगे जो प्रश्न के चारों खूँट घेर ले। परिभाषा का यह काम नहीं है। परिभाषा सहायक होती है, वह प्रश्नवाचक चिह्न को सर्वथा मिटा नहीं देती। परिभाषा द्वारा प्रश्नवाचक चिह्न को मिटा देने का यत्न हमें नहीं करना चाहिए। यह समझ लेना चाहिए कि हमारे सब प्रकार के ज्ञान के आगे, और साथ, सदा प्रश्नवाचक चिह्न चलता है। हमारा कर्तव्य है कि हम इस चिह्न को ठेलकर आगे-से-आगे बढ़ते रहें। पर, यह भी हम करें कि उसे अपनी आँखों की ओट कभी न होने दें। जब ऐसा होता है तभी आदमी में कट्टर अन्धता (=Dogma) आती है और उसका विकास रुक जाता है।

इस तरह, एक परिभाषा बनायें और उससे काम निकालकर सदा दूसरी बनाने को तैयार रहें। यह प्रगतिशील जीवन का लक्षण और प्रगतिशील, अनुभूतिशील, जीवन का लिपि-बद्ध व्यक्तीकरण

साहित्य है। इसी को यों कहें कि मनुष्य का और मनुष्य जाति का भाषा-बद्ध या अक्षर-बद्ध ज्ञान साहित्य है।

प्राणी में जब नव बोध का उदय हुआ तभी उसमें यह अनुभूति भी उत्पन्न हुई कि 'यह मैं हूँ' और 'यह शेष सब दुनिया है।' यह दुनिया बहुत बड़ी है,—इसका आर-पार नहीं है, और मैं अकेला हूँ। यह अनन्त है, मैं सीमित हूँ,—क्षुद्र हूँ। सूरज धूप फेंकता है जो मुझे जलाती है, हवा मुझे काटती है, पानी मुझे बहा ले जायगा और डुबा देगा, ये जानवर चारों ओर 'खाऊँ-खाऊँ' कर रहे हैं, धरती कैसी कँटीली और कठोर है,—पर, मैं भी हूँ, और जीना चाहता हूँ।

बोधोदय के साथ ही प्राणी ने शेष विश्व के प्रति द्वन्द्व, द्वित्व और विग्रह की वृत्ति अपने में अनुभव की,—इससे टक्कर लेकर मैं जीऊँगा, इसको मारकर खा लूँगा, यह अन्न है और मेरा भोज्य है; यह और भी जो-कुछ है, मेरे जीवन को पुष्ट करेगा।

बोध के साथ एक वृत्ति भी मनुष्य में जागी। वह थी 'अहंकार'। किन्तु 'अहंकार' अपने में ही टिक नहीं सकता। अहंकार भी एक सम्बन्ध है जो क्षुद्र ने विराट् के प्रति स्थापित किया। विराट् के अवबोध से क्षुद्र पिस न जाय, इससे क्षुद्र ने कहा, 'ओह, मैं 'मैं' हूँ और यह सब मेरे लिए है।'

इसी ढंग से क्षुद्र ने अपना जीवन सम्भव बनाया।

किन्तु, जीवन की इस सम्भावना में ही विराट् और क्षुद्र, अनन्त और समीप का अभेद सम्पन्न होता दीखा। वह अभेद यह है—जो-कुछ है वह क्षुद्र नहीं है, पर विराट् का अंश है, उसका बालक है, अतः स्वयं विराट् है।

धूप चमकी, तो वृक्ष ने मनुष्य से कहा, 'मेरी छाया में आ जाओ', बादलों ने पानी बरसा, तो पर्वत ने कंदरा में सूखा स्थल प्रस्तुत

किया और मानो कहा, 'डरो मत, यह मेरी गोद तो है।' प्यास लगी, तो झरने के जल ने अपने को पेश किया। मनुष्य का चित्त खिन्न हुआ और सामने अपनी टहनी पर से खिले गुलाब ने कहा, 'भाई मुझे देखो, दुनिया खिलने के लिए है।' सांझ की बेला में मनुष्य को कुछ भीनी-सी याद आई, और आम के पेड़ पर से कोयल बोल उठी, 'कू—ऊ, कू—ऊ।' मिट्टी ने कहा, 'मुझे खोदकर ठोक-पीटकर, घर बनाओ, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगी।' धूप ने कहा, 'सर्दी लगेगी तो तो सेवा के लिए मैं हूँ।' पानी खिलखिलाता बोला, 'घबराओ मत, मुझमें नहाओगे तो हरे हो जाओगे।'

मनुष्य-प्राणी ने देखा—दुनिया है, पर वह सब उसके साथ है।

फिर भी, धूप को वह समझ न सका। वर्षा के जल को, मिट्टी को, फल को,—किसी को भी वह पूरी तरह समझ न सका। क्या वे सब आत्म-समर्पण के लिए तैयार नहीं हैं? पर, उस क्षुद्र ने अहंकार के साथ कहा, 'ठहरो, मैं तुम सबको देख लूँगा। मैं, 'मैं' हूँ और मैं जीऊँगा।'

इस प्रकार अहंकार की टेक बनाकर, अपने को क्षुद्र और सबसे अलग करके वह जीने लगा। अर्थात् सब प्रकार की समस्याएं खड़ी करके उनके बीच में उलझा हुआ वह जीने लगा। विश्व के साथ विभेद वृत्ति ही, उसके जीने की शर्त बनकर, उसके भीतर अपने को चरितार्थ करने लगी।

पर, इस जीवन में एक अतृप्ति बनी रही जो विश्व के साथ मानो अभेद की अनुभूति पाने की भूखी थी। अहंकार से घिरकर वह अपने क्षुद्रत्व के अवबोध से त्रस्त हुआ,—त्यों ही विराट् से एक होकर अपने भीतर भी विराटता की अनुभूति जगाने की व्यग्रता उसमें उत्पन्न हुई। इस व्यग्रता को वह भाँति-भाँति से शान्त करने लगा। यहीं से धर्म, कला, साहित्य, विज्ञान,—सब उत्पन्न हुए।

अभेद-अनुभूति उसके लिए जब इष्ट और सत्य हुई ही थी तभी विभेद आया। एक आदर्श था, तो दूसरा व्यवहार। एक भविष्य था तो दूसरा वर्तमान। इन्हीं दोनों के संघर्ष और समन्वय में से मनुष्य-प्राणी के जीवन का इतिहास चला और विकास प्रगटा।

मनुष्य की मनुष्य के साथ, समाज के साथ, राष्ट्र के और विश्व के साथ (और इस तरह स्वयं अपने साथ) जो एक सुन्दर सामंजस्य —एक स्वरता, (=Harmony) स्थापित करने की चेष्टा चिरकाल से चली आ रही है, वही मनुष्य जाति की समस्त संग्रहीत निधि की मूल है। अर्थात्, मनुष्य के लिए जो कुछ उपयोगी, मूल्यवान्, सारभूत आज है, वह ज्ञात और अज्ञात रूप में उसी एक सत्य-चेष्टा का प्रतिफल है। इस प्रक्रिया में मनुष्य जाति ने नाना भाँति की अनुभूतियों का भोग किया। सफलता की, विफलता की, क्रिया की, प्रतिक्रिया की,—हर्ष, क्षोभ, विस्मय, भीति, आह्लाद, घृणा और प्रेम—सब भाँति की अनुभूतियाँ जाति के शरीर ने और इतिहास ने भोगीं, और वे जाति के जीवन और भविष्य में मिल गईं। भाँति-भाँति से मनुष्य ने उन्हें अपनाया, और व्यक्त किया। मन्दिर बने, तीर्थ बने, घाट बने,—शास्त्र, पुराण, स्तोत्र-ग्रन्थ बने,—शिलालेख लिखे गए, स्तम्भ खड़े हुए, मूर्तियाँ बनीं और स्तूप निर्मित हुए। मनुष्य ने अपने हृदय के भीतर विश्व को यथासाध्य खींचकर जो-जो अनुभूतियाँ पाईं,—मिट्टी, पत्थर, धातु अथवा ध्वनि एवं भाषा आदि को उपादान बनाकर, उन्हें ही रख लेने की उसने चेष्टा की। परिणाम में, हमारे पास ग्रन्थों का अटूट, अतोल संग्रह है, और जाने क्या-क्या नहीं है।

मानव जाति की इस अनन्त निधि में जितना कुछ अनुभूति-भाण्डार लिपि-बद्ध है, वही साहित्य है, और भी, अक्षर-बद्ध रूप में जो अनुभूति-संचय विश्व को प्राप्त होता रहेगा, वह होगा साहित्य।

★

दो :: जीवन और साहित्य

(श्री सम्पूर्णानन्द)

साहित्य का सम्बन्ध व्यक्ति और राष्ट्रीय जीवन से है । साहित्यकार शून्य में रचना नहीं करता । जगत् की परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना वह रह ही नहीं सकता, इसीलिए कि वह स्वयं जगत् का ही एक अंग है। लेखक के ऊपर परिस्थितियाँ निरन्तर अपना प्रभाव डालती रहती हैं । लेखक यदि उनसे बचने का प्रयत्न करे तो भी नहीं बच सकता। और न वह यही कह सकता है कि मैं अपनी घड़ी के अनुसार इतने बजे से लेकर इतने बजे तक अपने चारों ओर की परिस्थितियों से प्रभाव ग्रहण करूँगा और इसके बाद नहीं । लेखक चाहे या न चाहे, परिस्थितियाँ उस पर प्रभाव डालेंगी ही । जीवन में जो क्रियाएं हो रही हैं, साहित्यकार में उनकी प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक और अनिवार्य है । इसीलिए मेरे मत में 'स्वांतः सुखाय' रचना असम्भव है। जब हम यह कहते हैं कि तुलसी का साहित्य स्वांत: सुखाय रचा गया है तो वहाँ पर हमें तनिक रुककर विचार करना चाहिए कि वहाँ स्वांत: सुखाय से हमारा क्या प्रयोजन है। तुलसी ने जिस समय यह घोषणा की कि मैं स्वांत: सुखाय रचना कर रहा हूँ, उस समय हिन्दी के रीति-कालीन कवि किसी-न-किसी के राज्याश्रित होकर जीवन-यापन कर रहे थे। वे राज्याश्रित,

शृङ्गारी कवि अपनी जनता से विलग होकर थोड़े-से व्यक्तियों के मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करने में संलग्न थे। वे परांतः सुखाय रचना कर रहे थे। उनका लक्ष्य अपने संरक्षक राजा को प्रसन्न करना होता था, उनकी प्रतिभा पर व्यक्ति की पसन्द का प्रतिबन्ध होता था। 'बिहारी सतसई' की भाँति फ़िरदौसी का 'शाहनामा' भी परांतः सुखाय रचा गया है। भाँडों या विदूषकों की भाँति ये रीतिकालीन कवि दिन-रात इसी चिंता में रहते थे कि किन नानाविध प्रकारों से अपने संरक्षक को प्रसन्न करके उनका कृपा-भाजन बना जाय। जिस समय साहित्य का वातावरण इतना दूषित हो रहा था, उस समय तुलसी ने उदात्त स्वर में घोषणा की कि मेरी रचना स्वांतः सुखाय है। तुलसी के सामने समस्त हिन्दू-समाज था। समस्त हिन्दू-समाज के पुनर्जागरण और उसके दोषों के मार्जन तथा सुधार का लक्ष्य तुलसी के सामने था। इसीलिए समस्त हिन्दू-समाज के लिए साहित्य-रचना ही उनका उद्देश्य था। वे किसी के राज्याश्रित नहीं थे, किसी का उन पर प्रतिबन्ध नहीं था। वे किसी को खुश करने या इनाम पाने के लिए रचना नहीं करते थे। इसे भूमिका में रखकर देखने पर उनके स्वांतः सुखाय का वास्तविक महत्त्व समझ में आता है। वह उनके स्वतन्त्र होने की, राज्याश्रय से मुक्त होने की, अपने विश्वास के अनुसार रचना करने की घोषणा है और इस रूप में उसे क्रान्तिकारी कहना भी अनुचित न होगा। उनका स्वांतःसुखाय—परांतः सुखाय का निषेध करता है, परजन-हिताय का नहीं। साहित्य-निर्माण के समय हमारे साहित्यिकों को भी यह बात स्मरण रखनी चाहिए।

समाज का प्रभाव साहित्यकार पर न पड़े, यह असम्भव है। हाँ, साहित्यकार पलायन अवश्य कर सकता है, आँख बन्द कर सकता है, जैसा कि दरबारी कवियों ने किया। दरबारी कविता में समाज के

प्रभाव से बचने का, उसको दबाने का प्रयत्न स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। दरबारी कवियों ने अपनी प्रतिभा के बल से समाज के प्रभाव को दबाने की कोशिश की। परन्तु इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं कि उच्चवर्ग वालों को आसमान पर चढ़ाते समय दरबारी कवियों के मन में ग्लानि अवश्य होती रही होगी। यह बात दूसरी है कि उन्होंने नशा पीकर अपना गम गलत किया हो।

आज की परिस्थितियाँ बिलकुल भिन्न हैं। आज हमारे सामने एक राजा या महाराजा को प्रसन्न करने का प्रश्न नहीं है। आज हमारे सामने लाखों आदमी हैं, जिन्हें हमको अपनी बात सुनानी है। मैं साहित्य का पण्डित नहीं हूँ, साहित्य मेरा विषय नहीं है, लेकिन तो भी आजकल मैं देखता हूँ कि 'नित्य' साहित्य की रचना का प्रश्न ही मुख्य है। क्या प्रेम, करुणा, वीरता आदि 'नित्य' साहित्य की रचना के लिए उपयुक्त विषय नहीं हैं? यदि ये उपयुक्त विषय हैं, तो यह कैसे हो सकता है कि आप इनका जिक्र तो करें; लेकिन इनके पात्रों को छोड़ दें? पात्रों और परिस्थिति का ख़याल रखना ज़रूरी है, क्योंकि इनका ख़याल रखे बिना रस का उद्रेक नहीं हो सकता। कोरा शब्दाडंबर टिकाऊ नहीं। रस के लिए आलंबन तथा उद्दीपन राष्ट्रोपयोगी साहित्य की रचना करना चाहते हैं तो आपको सोचना चाहिए कि आपके देशवासी किन परिस्थितियों में जीवन के दिन काट रहे हैं। साहित्यकार तो सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक सहृदय, संवेदनशील प्राणी होता है। व्यक्ति के, समाज के सुख-दुःख की सबसे गहरी और व्यापक प्रतिक्रिया उसी के अन्दर होती है। इसलिए साहित्यकार का यह स्वाभाविक धर्म होता है कि अपने देश और काल की ठीक-ठीक परिस्थितियों का निर्भीक चित्रण करे। आज यदि देश में चारों ओर भूख और महामारी का ताण्डव हो रहा है, यदि लाखों-करोड़ों आदमी भूख से मर रहे हैं, यदि देश के

जन-जन को पग-पग पर विदेशी दासता की ठोकरें मिल रही हैं, यदि देश दुःखी है और भूख, गुलामी और शोषण का शिकार है और साहित्यकार इन सब क्लेशों की उपेक्षा करके मौज का राग अलापता है तो वह राष्ट्रीय जीवन से कोसों दूर है, वह राष्ट्र के प्रति, साहित्य के प्रति विश्वास-घात करता है। उसे साहित्यकार कहलाने का अधिकार नहीं है। वह आकाश-कुसुम देख सकता है पर वह आँख का अन्धा है और राष्ट्र के लिए उसका कोई उपयोग नहीं है। साहित्यकार यदि सच्चा होगा तो उसकी रचना पर जगत् की छाया अवश्य पड़ेगी। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि साहित्यकार फोटोग्राफर है। साहित्यकार फोटोग्राफर-मात्र नहीं है। यदि वह केवल फोटोग्राफर होगा तो वह चाहे मिस मेयो की भाँति नाली की सफाई के दरोगा को रिपोर्ट भले पेश कर दे, पर उसका साहित्य साहित्य न होगा। यह उचित है कि साहित्यकार समाज का दोष जाने, परन्तु केवल उसी के यथार्थ चित्रण से साहित्यकार का कर्त्तव्य पूरा नहीं हो जाता। जिस प्रकार वैद्य शरीर के विकारों को जानने के साथ स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानता है, उसी प्रकार साहित्यकार को भी समाज के शरीर के विकारों को जानने के साथ-साथ समाज के स्वास्थ्य के लक्षणों को भी जानना चाहिए। उसे स्वास्थ्य और रोग दोनों का स्वरूप जानना चाहिए। एक बात यहाँ पर स्मरण रखने की यह है कि साहित्यकार केवल प्रचारक नहीं होता, किसी 'वाद' से बँधने पर वह अपने लक्ष्य से गिर जायगा। पर साहित्यकार प्रचारक नहीं है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उसकी रचना की सामाजिक उपादेयता नहीं होती। हमारे प्राचीन, संस्कृत के साहित्याचार्यों ने साहित्य को उपादेयता की आधार-भूमि पर प्रतिष्ठित किया है। 'काव्य प्रकाश' में काव्य के लक्षण गिनाते समय काव्यप्रकाशकार ने 'शिवेतरक्षतये' को भी प्रतिपादित किया है। अशिव की क्षति, साहित्य का बड़ा पुनीत अनुष्ठान है। अशिव की क्षति करना साहित्यकार का लक्ष्य होना चाहिए। जो

साहित्यकार ऐसा नहीं करता, उसे सरस्वती के मन्दिर में प्रवेश का अधिकार नहीं है। अशिव की क्षति करने के साथ-साथ हमें समाज के रूप पर भी विचार करना चाहिए अर्थात् इस प्रश्न पर कि दासता और शोषण की अशिव शक्तियों के विनाश के उपरान्त मनुष्य किस ओर जाय, समाज किस ओर जाय।

योगी की भाँति सच्चे कलाकार की पहचान भी ऋत और सत्य है। जिस बात को विद्वान् तर्क के द्वारा देर में पाता है, उसको कलाकार अपनी प्रतिभा द्वारा अपनी अन्तश्चेतना (Intuition द्वारा जल्दी पा जाता है। कोई साहित्यकार राष्ट्र के लिए उपयोगी साहित्य का सृजन कर रहा है, इस बात की अकेली पहचान यह है कि साहित्यकार सत्य तथा राष्ट्रीयता को अपनी श्रद्धानुसार जिस रूप में ग्रहण करे, उसी रूप में निर्भयतापूर्वक व्यक्त करे, भागे नहीं। यदि वह ऐसा करता है तो बिना किसी 'वाद' का प्रचारक हुए उसका साहित्य राष्ट्रीय कहलाने का अधिकारी होगा।

तीन : : साहित्य और समाज

(प्रो० जगन्नाथप्रसाद मिश्र)

मनुष्य सामाजिक जीव है। जिस प्रकार उसके जीवन का एक व्यष्टि रूप है, उसी प्रकार समष्टि रूप भी। इस सामाजिक आवेष्टन के मध्य ही उसके व्यक्तित्व का विकास होता है। उसका व्यक्ति-पुरुष अपनी सत्ता को चरितार्थ करना चाहता है; किन्तु पग-पग पर समाज का अस्तित्व मानकर ही उसे चलना पड़ता है। वह जानता है कि उसके जीवन की गति-विधियाँ समाज के सहस्रों विधि-निषेधों द्वारा सीमाबद्ध हैं। यद्यपि प्रत्यक्ष रूप में वह अपने समस्त कर्मों में स्वाधीन मालूम पड़ता है, किन्तु समाज की परिस्थिति एवं उसकी भाव-धारा के साथ उसका योग-सूत्र कभी विच्छिन्न नहीं होने पाता। अतएव मनुष्य के मन को सर्वथा स्वाधीन मन समझने से काम नहीं चल सकता। जो स्वाधीनता उसकी अपनी नहीं है, वह क्या उसके मन की स्वाधीनता हो सकती है?

साहित्य का मूल स्रोत होता है मनुष्य का जीवन। मनुष्य के जीवन के सुख-दुःख, आशा-आकांक्षा, उत्थान-पतन--एक शब्द में, मनुष्य के संपूर्ण जीवन की ही अभिव्यक्ति साहित्य द्वारा होती है। हेनरी हडसन के शब्दों में "साहित्य मूलतः भाषा के माध्यम द्वारा जीवन की अभिव्यक्ति है,

It is fundamentally an expression of life through the medium of language." मनुष्य के इस व्यक्तिगत जीवन को लेकर ही अतीत काल के साहित्य के संबंध में विशेष रूप से आलोचना हुआ करती थी। उसका यह व्यष्टि जीवन समष्टि जीवन द्वारा सीमाबद्ध है, इस बात पर उस समय के आलोचक विशेष ध्यान नहीं देते थे। किन्तु आधुनिक युग में अर्थ-विज्ञान की आलोचना विशेष रूप से होने के कारण और मनुष्य के सामाजिक जीवन के ऊपर समाज की अर्थ-नीति का सर्वोपरि प्रभाव होने के फलस्वरूप साहित्य में भी मनुष्य के आर्थिक एवं पारिपार्श्विक जीवन पर विशेष रूप से जोर दिया जाने लगा है। मनुष्य की व्यष्टि सत्ता के साथ समष्टि का किस प्रकार संघर्ष एवं द्वन्द्व चलता रहता है और इसके परिणामस्वरूप उसके सामाजिक जीवन में किस प्रकार रूपान्तर होता रहता है; यह बात अतीत काल के साहित्य या समालोचना में विशेष रूप से नहीं पाई जाती। किन्तु वर्तमान युग का साहित्य सबसे बढ़कर प्रधानता इस बात को देता है कि मनुष्य के वास्तविक जीवन के साथ समाज एवं उसकी अर्थ-नीति का घनिष्ठ संबन्ध है और उसकी समस्त कर्म-प्रचेष्टाओं पर उसके सामाजिक जीवन की छाप किसी-न-किसी रूप में पड़े बिना नहीं रहती। मनुष्य की सामाजिक परिस्थिति एवं उसके व्यष्टि जीवन के साथ समष्टि के संघर्ष और उसके मन के ऊपर इन सबकी प्रति-क्रियाओं की परीक्षा करने के कारण ही आधुनिक साहित्य भाव-प्रधान न होकर बहुत-कुछ वस्तु-प्रधान बन गया है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि समाज-निरपेक्ष मनुष्य का अस्तित्व संभव नहीं। और, समाज में समय-समय पर जो परिवर्तन होते रहते हैं, उनका प्रभाव मानव-मन पर भी पड़े बिना नहीं रहता। मनुष्य के मन का यह परिवर्तन जब साहित्य में प्रतिफलित होता है, तभी साहित्य में चैतन्य की सृष्टि होती है और वह सबके लिए उप-

भोग्य बन जाता है। युग-युग में मनुष्य के विचारों में यदि परिवर्तन नहीं होते रहते तो साहित्य की प्राण-रस-धारा में वह सरसता नहीं पाई जाती, जिसके कारण वह मनुष्य के मन को मुग्ध एवं प्रभावित करती रहती है। युग-युग में मनुष्य के विचार, आशा और आकांक्षाओं में परिवर्तन होते रहते हैं, उनके सामने नूतन युग नई-नई समस्याएं लेकर उपस्थित होता है और मनुष्य उन्हीं को साहित्य में रूपायित करता है। यही कारण है कि प्रत्येक युग की विचार-धारा की छाप उस युग के साहित्य पर पड़ती है और उस युग का साहित्य परवर्त्ती युग के मनुष्य को विशेष रूप से प्रभावित एवं अनुप्राणित नहीं करता। मनुष्य के सामने नूतन युग, जो नई-नई समस्याएं लेकर उपस्थित होता है, उन पर वह नये दृष्टिकोण से विचार करता है, उसकी विचार-दृष्टि में आमूल परिवर्तन हो जाता है और अपने इस परिवर्त्तित दृष्टि-कोण को लेकर जब वह अतीत युग के साहित्य पर विचार करता है, तो स्वभावतः उसे अतीत युग के उस साहित्य से वर्तमान युग की समस्याओं का समाधान करने के लिए कोई अनुप्रेरणा नहीं मिलती। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उस अतीत युग के साहित्य का कोई मूल्य या महत्त्व नहीं होगा। सच बात तो यह है कि प्रत्येक युग का श्रेष्ठ साहित्य अपने युग के प्रगतिशील विचारों द्वारा किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रभावित होता है। और, उस साहित्य में युगवाणी की प्रतिध्वनि होती है, मनुष्य के गंभीर रहस्यमय जीवन का कल-कल्लोल होता है, वह मनुष्य के सामने एक नूतन आदर्श रखता है, उसके मन में भविष्य के लिए एक नूतन स्वप्न की प्रेरणा उत्पन्न करता है, यही उस साहित्य का उस युग के मनुष्य के लिए श्रेष्ठ अवदान होता है। मानव-मन को इस प्रकार गंभीर रूप से प्रभा-वित करके उसके जीवन को सभी दिशाओं में प्रगतिशील बनाने में ही साहित्य की चरम सार्थकता है। युग-युग में साहित्य जो लक्ष-लक्ष

मनुष्यों के मन-प्राण को इस प्रकार प्रभावित करता है, यही उसकी लोकप्रियता का मूल कारण है।

इसलिए किसी युगविशेष के साहित्य पर विचार करते समय हमें उस युग के आदर्श, सामाजिक परिस्थिति एवं भाव-धारा के साथ साहित्य का जो अविच्छेद्य संबंध है, उस पर विचार करना होगा। जिन बाह्य परिस्थितियों के बीच उस युग के साहित्य ने जन्म ग्रहण किया था, उन बाह्य परिस्थितियों के साथ-साथ लेखक के अन्तर के साथ परिचित होकर ही हम उस साहित्य का यथार्थ परिचय प्राप्त कर सकते हैं और उसके संबंध में सम्यक् विचार कर सकते हैं। युग-साहित्य के तहास के मूल सूत्र का सन्धान पाने के लिए हमें चतुर्दिक् की बाह्य परिस्थितियों के प्रति उदार एवं व्यापक दृष्टि रखनी होगी। वर्त्तमान युग के आदर्श एवं भाव-धारा के मानदण्ड को लेकर यदि हम रीति-काल के साहित्य पर विचार करें, तो अवश्य ही वह हमें अकिञ्चित्कर मालूम होगा। किन्तु आज की बदली हुई रुचि को लेकर उस पर विचार करना ही असंगत होगा। उस युग की बाह्य परिस्थितियों पर ध्यान रख-कर यदि हम तत्कालीन साहित्य पर विचार करें, तो हमें रीतिकाल की कतिपय रचनाओं की भी यह विशिष्टता अवश्य स्वीकार करनी पड़ेगी कि उनके द्वारा साहित्य को एक अभिनव रूप प्राप्त हुआ और श्रेणी-विभक्त समाज की श्रेणी-विशेष से जीवन की चमत्कारपूर्ण अभि-व्यक्ति हुई। इसलिए वर्त्तमान युग के श्रेणी-हीन समाज के आदर्श को लेकर उस युग के श्रेणी-विभक्त समाज के साहित्य के संबंध में विचार करना और उसे हेय सिद्ध करने की चेष्टा करना विचार-बुद्धि की संकीर्णता के सिवा और कुछ नहीं कहा जा सकता।

साहित्य की श्रेष्ठता का, उसके मूल्य एवं महत्त्व का एक ही मानदण्ड हो सकता है, और वह मानदण्ड यही है कि जातीय जीवन के साथ—अखिल जन-शक्ति की प्राण-धारा के साथ—उसका निविड़ संयोग है या नहीं। मनुष्य के विचार, भाव, कल्पना एवं अन्तर को विशेष रूप

में आलोकित करने की शक्ति उसमें है या नहीं। वह अपने युग के अधिक-से-अधिक मनुष्यों के जीवन में श्रेष्ठ एवं उच्च आदर्शों की अनुप्रेरणा उत्पन्न करने में समर्थ है या नहीं। वह मनुष्य के जीवन की संकीर्ण परिधि से, पारिवारिक जीवन के प्राचीर-वेष्टित कारागार से मुक्त करके उसके चैतन्य को बृहत्तर एवं व्यापक जीवन के उन्मुक्त वातावरण में परिव्याप्त कर देने में सक्षम है या नहीं। मनुष्य के साथ मनुष्य का जो आत्मीय संबन्ध है, अन्तर का जो रागात्मक योग है, उस योग को निविड़ करके उसकी अनुभूतियों को गंभीर, व्यापक एवं विशाल बनाने में जो साहित्य, जो शिल्प जितना ही अधिक शक्तिशाली सिद्ध होगा, उतना ही वह श्रेष्ठ समझा जायगा और उतनी ही उसकी सार्थकता होगी। इस प्रकार के साहित्य पर एक ओर यदि युग की बाह्य परिस्थितियों के फलस्वरूप युग-धर्म की छाप होती है, तो दूसरी ओर उसमें मानव के अन्तर का चिरन्तन सत्य भी सन्निहित होता है, जो युग-युग में उसे वरेण्य बनाये रहता है। मानव-जीवन की यह प्राणोन्मादना एवं दुर्वार गतिवत्ता ही साहित्य को अमरत्व प्रदान करती है। रोम्यां रल्यां के शब्दों में इस प्रकार का साहित्य धूमकेतु की तरह प्रचण्ड प्राण-शक्ति एवं प्रकाण्ड दीप्ति-संपन्न होता है, "It is a Comet sweeping eternity"

साहित्य में मनुष्य के नित्य के जीवन की घटनाओं एवं घात प्रतिघातों की अभिव्यक्ति होती है सही; किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इस प्रकार की घटनाओं का यथातथ्य वर्णन कर देने से ही वह साहित्य हो जाता है। साहित्य के यथार्थवाद और वास्तविक जीवन की प्रत्यक्ष घटनाओं में एक बहुत बड़ा अन्तर है। और वह अन्तर यह है कि वास्तविक जीवन की प्रत्यक्ष घटनाएं जब साहित्य में रूपायित होती हैं, तो वे एक स्वतन्त्र वस्तु बन जाती हैं। कवि या शिल्पी उन वास्तविक घटनाओं को जब अपने अन्तर की अनुभूति द्वारा हृदयङ्गम करता है

और एक अलौकिक आनन्द-रस से उसके प्राण सरसित हो उठते हैं, तभी वह उस आनन्द को वितरण करने के लिए भाषा का आश्रय ग्रहण करता है। स्रष्टा के प्राण-रस का यह स्पर्श ही यथार्थ रूप में साहित्य की सृष्टि करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य के Realism या यथार्थवाद में जीवन की घटनाओं का परोक्ष प्रकाश होने पर भी वह साहित्य नाम से इसलिए अभिहित होता है कि उसके ऊपर स्रष्टा की अलौकिक रसानुभूति का रंग चढ़ा हुआ होता है। जहाँ इस रसानुभूति के स्पर्श का अभाव होगा, वहाँ सत्य रूप में साहित्य-सृष्टि नहीं हो सकती।

इसमें सन्देह नहीं कि साहित्य का मुख्य उद्देश्य रस-सृष्टि करना, आनन्द-दान करना है। किन्तु साहित्य द्वारा यह आनन्द-दान तभी संभव होता है, जब कि उसकी विषय-वस्तु का संबंध मानव-जीवन से होता है। समाज, राष्ट्र या युग की भावनाओं से सम्पूर्ण विच्छिन्न केवल शून्य के आधार पर कल्पना के जोर से साहित्य-सृष्टि नहीं हो सकती। हाँ, यह अवश्य होता है कि सब देशों में इस प्रकार के कवि या शिल्पी जन्म ग्रहण करते हैं, जो अपने समय के जातीय जीवन का अपनी कृतियों में यथार्थ चित्रण न करके मनुष्य के सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक चिरन्तन रूप का चित्रण करते हैं। वे मनुष्य के जिस जीवन-देवता की वाणी सुनाते हैं, वह जीवन-देवता सार्वजनीन एवं सार्वभौम होता है। वे जातीय जीवन को नये साँचे में ढालने के लिए अपनी कल्पना द्वारा एक आदर्श अवतारणा करते हैं। वाल्मीकि ने पहले अपनी कल्पना द्वारा एक आदर्श चरित्र पुरुषोत्तम की उद्भावना की होगी और इसके बाद वे अपने उस आदर्श को रामचरित्र के रूप में चरितार्थ करने में समर्थ हुए होंगे। इस प्रकार के कवि जातीय जीवन से ऊर्ध्व अपने मानस-जीवन को साहित्य में प्रस्फुटित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने अपनी विराट्

कल्पना द्वारा जिस आदर्श जीवन की अवतारणा की है, उसके लिए उन्हें समसामयिक जातीय जीवन से अणु-मात्र भी प्रेरणा नहीं मिली है। भविष्य के ज्योतिर्मय रूप का स्वप्न देखने वाला कवि अपनी कविता में यदि उस नवयुग की वाणी हमें सुनाता है जो युग आसन्न-प्राय है, तो इसका अर्थ यह है कि कवि ने वास्तविक जीवन के कदर्य्य रूप को सुन्दर एवं महत् बनाने के उद्देश्य से ही अपनी हृदय-वीणा के तारों में प्राणों की तान भरकर अपनी अग्नि-रूपी वाणी द्वारा हमें नवयुग का सन्देश सुनाया है। इसलिए साहित्य में समसामयिक जातीय जीवन को अभिव्यक्ति होने पर भी उसका योग-सूत्र उस जीवन के साथ सर्वथा विच्छिन्न नहीं होता और इस प्रकार के साहित्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य यद्यपि आनन्द-दान करना होता है, किन्तु इस आनन्द-दान के अन्दर भी समाज के कल्याण-साधन का उद्देश्य सन्निहित होता है।

श्रेष्ठ साहित्य द्वारा हमें अलौकिक रसानन्द प्राप्त होता है। और यह रसानन्द हमें व्यक्तिगत जीवन की क्षुद्र परिधि से ऊपर उठाकर हमारे चैतन्य, को बृहत्तर जीवन में परिव्याप्त कर देता है। हममें चित्त की गम्भीरता एवं अनुभूति की विशालता उत्पन्न करता है। हमारी दृष्टि उदार एवं व्यापक बन जाती है, हमारे जीवन का आदर्श महत्तर एवं श्रेष्ठतम बन जाता है और इस जीवन के माधुर्य्य का आस्वादन करके हमारे मन-प्राण मुग्ध हो जाते हैं। किन्तु जिस साहित्य में आनन्ददान करने की यह क्षमता होगी, उसका स्रष्टा क्या युग के कल्लोल से सर्वथा अपने को विच्छिन्न रखकर इस प्रकार की साहित्य-सृष्टि करने में समर्थ हो सकता है? कवि किम्वा शिल्पी की अनुभूति एवं कल्पना में जब तक सत्यनिष्ठा नहीं, तब तक उसके द्वारा रस-सृष्टि हो ही नहीं सकती। हडसन ने ठीक ही कहा है—Without sincerity no vital work in literature is possible. अर्थात् हृदय

की सचाई के बिना किसी सजीव साहित्य की सृष्टि संभव नहीं हो सकती। और यह हृदय की सचाई तभी आती है, जब कि कवि या शिल्पी उदार हृदय, गंभीर अनुभूति एवं व्यापक दृष्टिकोण लेकर युग की समस्याओं पर विचार करता है और असुन्दर को सुन्दर, क्षुद्र को महत् एवं अपूर्ण को पूर्ण बनाने के लिए अपनी प्रतिभा द्वारा नूतन की सृष्टि करता है। चित्त की गंभीरता एवं अनुभूति की विशालता ही कवि के हृदय में प्रेम-प्रस्रवण को प्रवाहित कर देती है, जिससे उसकी प्रतिभा को प्रेरणा मिलती है और वह अपने प्राण-रस को अपनी रचना में रूप देकर उसके द्वारा सहृदय रसज्ञ पाठकों के मन में भी प्राण-रस का संचार करने में समर्थ होता है। इसलिए सच्चा कवि वही है, जिसने अपने व्यक्तित्व को अखिल लोक में परिव्याप्त कर दिया है, जिसने प्रेम की अन्तर्दृष्टि से मनुष्य-मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है, उस संबंध को देखा है। और मन-प्राण से उसका अनुभव किया है। हृदय की इस गंभीर अनुभूति एवं प्रेम की प्रखरता का प्रकाश जब साहित्य में प्रस्फुटित हो उठता है, तभी वह लौकिक रस से भिन्न साहित्य-रस बनकर मनुष्य के अन्तर को रसमग्न कर देता है और उसकी सुकुमार वृत्तियों को निरन्तर झंकृत करता रहता है। इस प्रकार युग एवं काल की घटनाओं एवं समस्याओं के कोलाहल के बीच जिस साहित्य का जन्म हुआ था, वह साहित्य ही अपने अलौकिक साहित्य-रस के बल पर कालान्तर में युग के प्रभावों से मुक्त होकर चिरन्तन एवं शाश्वत रूप ग्रहण करता है।

★

चार :: साहित्य में आत्माभिव्यक्ति

(डाक्टर नगेन्द्र)

साहित्य का मूल धर्म क्या है ? आलोचना में 'अहंवाद का पोषण करते हुए सामाजिक गुण का विरोध करने' का जो मुझ पर आरोप लगाया गया है, उसे लेकर आत्म-निरीक्षण करने का यह प्रश्न अनिवार्यतः मेरे मन में उठता है : साहित्य का मूल धर्म क्या है ? और अनेक पंडित मित्रों की विरोधी युक्तियों के बावजूद भी इसका उत्तर अब भी मेरे पास एक ही है : 'आत्माभिव्यक्ति'। जैसा कि मैं अनेक प्रसंगों में अनेक प्रकार से व्यक्त करता आया हूँ, आत्माभिव्यक्ति ही वह मूल तत्त्व है जिसके कारण कोई व्यक्ति साहित्यकार और उसकी कृति साहित्य बन पाती है। विचार करने के बाद संसार में केवल दो तत्त्वों का ही अस्तित्व अन्त में मानना पड़ जाता है—आत्म और अनात्म। इस मान्यता का विरोध दो दिशाओं से हो सकता है—एक अद्वैतवाद की ओर से और दूसरा भौतिकवाद (द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद) की ओर से। अद्वैतवाद प्रकृति अथवा अनात्म को भ्रम कहता है और भौतिकवाद आत्म को प्रकृति की ही उद्भूति मानता हुआ उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करता परन्तु वास्तव में यह दोनों ही दर्शन की चरम स्थितियाँ हैं—और व्यावहारिक तल पर दोनों ही उपर्युक्त द्वैत को स्वीकार कर लेते हैं। अद्वैतवाद साधना और

व्यवहार के लिए जीवन और जगत् की महत्ता को अनिवार्यतः स्वीकार कर लेता है। और उधर भौतिकवाद भी, आत्मा को चाहे वह कितना ही भौतिक और अपृथक् क्यों न माने, व्यावहारिक जीवन में व्यक्ति और वातावरण के पार्थक्य को तो मानता ही है। साहित्य का सम्बन्ध दार्शनिक अतिवादों से न होकर जीवन से है, अतएव इसके लिए यह द्वैत-स्वीकृति अनिवार्य है चाहे आप इसे 'जीव और प्रकृति' कह लीजिए या 'व्यक्ति और वातावरण'। परन्तु ये केवल भिन्न-भिन्न नाम हैं—मैं और मेरे अतिरिक्त और जो-कुछ है उसको व्यक्त करना ही इनकी सार्थकता है। 'आत्म और अनात्म' चूँकि इनमें सबसे कम पारिभाषिक हैं इसलिए हमने इन्हें ही ग्रहण किया है। दर्शन में थोड़े-बहुत पारिभाषिक अंतर से इन्हें ही जीव और जगत्—आध्यात्मिक सत्तोविज्ञान (metaphysics) में अहं और इदं, विज्ञान में व्यक्ति और वातावरण कहा गया है। एक तीसरा तत्त्व ईश्वर भी है और मेरा संस्कारी मन उसके अस्तित्व का निषेध करने को प्रस्तुत नहीं है, परन्तु उसको मैं आत्म से पृथक् वस्तु-रूप में नहीं ग्रहण कर पाया। आत्म सतत प्रयत्नशील है—वह अनात्म के द्वारा अपने को अभिव्यक्त करने का सतत प्रयत्न करता रहता है—इसी को हम जीवन कहते हैं। अनात्म अनेक रूप वाला है—उसी के विभिन्न रूपों के अनुसार यह प्रयत्न भी अनेक रूप धारण करता रहता है—दूसरे शब्दों में आत्माभिव्यक्ति के भी अनेक रूप होते हैं। इनमें आत्मा की जो अभिव्यक्ति शब्द और अर्थ के द्वारा होती है उसका नाम साहित्य है। जब हम अपनी इच्छा को कर्म में प्रतिफलित कर पाते हैं तो हमें कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति का आनन्द मिलता है—मैं जो चाहता था वह कर रहा हूँ। यह कर्म द्वारा आत्माभिव्यक्ति है—इसमें विशेष भौतिक व्यवहारों के द्वारा मैं आत्म का प्रतिसंवेदन या आस्वादन कर रहा हूँ। इसी प्रकार जब हम अपने अनुभव को शब्द और अर्थ द्वारा अभिव्यक्त कर पाते हैं तो हमें एक दूसरे माध्यम के द्वारा आत्माभिव्यक्ति का

आनन्द मिलता है। यह माध्यम पहले की अपेक्षा स्पष्टतः ही सूक्ष्म और सीधा भी है—सीधा इसलिए है कि हमारा अनुभव बिना शब्द अर्थ की पकड़ में आये कोई रूप ही नहीं रखता—जब तक वह शब्द और अर्थ की पकड़ में नहीं आता, उसका अस्तित्व संवेदन (Sensations) से पृथक् कुछ भी नहीं है—उसका वैशिष्ट्य तभी व्यक्त होता है जब वह शब्द और अर्थ में बँध जाता है। कहने का तात्पर्य्य यह है कि अनुभव को शब्द-अर्थ-रूपी माध्यम की अनिवार्य्य अपेक्षा रहती है—इच्छा और कर्म का सम्बन्ध अनिवार्य्य नहीं है, परन्तु अनुभव और शब्द-अर्थ का सम्बन्ध सर्वथा अनिवार्य्य है।

दूसरा प्रश्न स्वभावतः यह उठता है कि इस अभिव्यक्ति का मूल्य क्या है—लेखक के लिए उसकी क्या सार्थकता है और दूसरों के लिए उसका क्या उपयोग है? तो जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, आत्माभिव्यक्ति की सार्थकता उसके आत्म-परितोष में है—काव्य-शास्त्रियों ने जिसे सृजन-सुख कहा है। अपने को पूर्णता के साथ अभिव्यक्त करना—चाहे वह कर्म द्वारा हो अथवा वाणी द्वारा, या किसी भी अन्य उपकरण के द्वारा हो, व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। वाणी में कर्म की अपेक्षा स्थूलता और व्यावहारिकता कम तथा सूक्ष्मता और आंतरिकता अधिक होती है, अतएव वाणी के द्वारा जो आत्माभिव्यक्ति होगी उसके आनन्द में सूक्ष्मता और आंतरिकता स्वभावतः ही अधिक होगी—दूसरे शब्दों में यह आनन्द अधिक परिष्कृत होगा। अतः निष्कर्ष यह निकला कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को एक सूक्ष्मतर परिष्कृत आनन्द प्रदान करती है मुझ-जैसे व्यक्ति को तो, जो आनन्द को जीवन की चरम उपयोगिता मानता है, इसके आगे और कुछ पूछना नहीं रह जाता। परन्तु उपयोगितावादी यहाँ भी प्रश्न कर सकता है कि आखिर इस परिष्कृत आनन्द की ही ऐसी क्या उपयोगिता है? इसका उत्तर यह है कि इसके द्वारा लेखक के

अहं का संस्कार होता है—उसकी वृत्तियों में कोमलता, शक्ति, सामंजस्य, सूक्ष्म-ग्राहकता, अनुभूति-क्षमता आदि गुणों का समावेश होता है और उसका व्यक्तित्व समृद्ध होता है। शब्द और अर्थ अत्यन्त आंतरिक उपकरण हैं, उनके द्वारा जो सफल आत्माभिव्यक्ति होगी, उसमें निश्छलता अनिवार्यतः वर्तमान रहेगी (क्योंकि बिना उसके आत्माभिव्यक्ति सफल हो ही नहीं सकती)—और उपयोगिता की दृष्टि से भी निश्छलता मानव-मन की प्रमुख विभूतियों में से है। अन्य गुण तो बहुत-कुछ व्यक्ति-सापेक्ष हो सकते हैं—अर्थात् कवि के अपने व्यक्तित्व के अनुसार न्यूनाधिक हो सकते हैं, परन्तु निश्छलता प्रत्येक दशा में साहित्यगत अभिव्यक्ति के लिए अनिवार्य होगी अतएव उपयोगिता की दृष्टि से भी बड़ी सरलता से यह कहा जा सकता है कि यह आत्माभिव्यक्ति लेखक को (चाहे उसमें कैसे ही दुर्गुण क्यों न हों) अपने प्रति ईमानदार होने का सुख देती है, और इस प्रकार अनिवार्य रूप से उसके व्यक्तित्व का संस्कार करती है।

यहीं एक और शंका का समाधान कर लेना उचित होगा—वह यह कि कहीं इस आत्माभिव्यक्ति के द्वारा अहंकार का पोषण तो नहीं होता। इसके उत्तर में मेरा निवेदन है कि अहंकार और अहं दो भिन्न वस्तुएं हैं—अहंकार जहाँ स्वभाव का एक दोष है वहाँ अहं समस्त वृत्तियों की समष्टि का नाम है—जिसे दूसरे शब्दों में आत्म भी कहते हैं। साहित्यगत आत्माभिव्यक्ति जीवन की सभी सत्क्रियाओं की भाँति अहं अर्थात् आत्म का पोषण तो निश्चय ही करती है, परन्तु अहंकार का पोषण उसके द्वारा सम्भव नहीं, क्योंकि उसके लिए जैसा कि मैंने अभी कहा, निश्छलता है। निश्छल आत्माभिव्यक्ति आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में ही सम्भव हो सकती है—और आत्म-साक्षात्कार के क्षणों में दंभ के लिए स्थान कहाँ? अभिनव ने इसीलिए रस को उत्तम प्रकृति कहा है और उसके लिए तमोगुण और रजोगुण के ऊपर सतोगुण का प्राधान्य आवश्यक माना है। उस

दिन इसी विषय पर श्री जैनेन्द्रकुमार जी से बातचीत हो रही थी। उनका कहना था कि साहित्यकार का अहं स्वभावतः अत्यन्त तीव्र होता है—यहाँ तक कि वह इसके मारे परेशान रहता है। साहित्य-सर्जन द्वारा वह इसी अहं से मुक्ति पाने का प्रयत्न करता है—अपनी सृष्टि में वह इस अहं (अहंकार)※ के नीचे दबी हुई पीड़ा को व्यक्त करता हुआ अपने को घुला देने का प्रयत्न करता है। साहित्य अपने शुद्ध रूप में अहं का विसर्जन है। जैनेन्द्रजी के चिंतन पर गांधी की अथवा और व्यापक रूप में लीजिए तो संतों की आत्म-पीड़नमयी चिंता-धारा का प्रभाव है, इसीलिए उन्होंने आध्यात्मिक शब्दावली—'अहं का विसर्जन' का प्रयोग किया है। मनोविज्ञान की दृष्टि से यह विसर्जन वास्तव में अहं का संस्कार ही है—इसके द्वारा अहंकार का पूर्ण विसर्जन होकर अन्त में अत्यन्त सूक्ष्म रीति से अहं—अर्थात् आत्म का उन्नयन ही होता है। आत्म के इस गोपन में आत्म का दर्शन प्राप्त होता है। प्रेम की चरम स्थिति में, जहाँ वासना सर्वथा अभुक्त रहती है, सम्पूर्ण आत्म-समर्पण की सम्भावना है इसमें सन्देह नहीं—भक्त का भगवान् के प्रति पूर्ण आत्म-निवेदन वैष्णव-साहित्य की अत्यन्त परिचित घटना है। परन्तु इस समर्पण अथवा निवेदन में अहं का विनाश नहीं है—प्रेमी अथवा भक्त अपने अहं को प्रेम पात्र अथवा इष्टदेव में प्रक्षिप्त कर उससे तदाकार होता हुआ अन्त में फिर उसे आत्मलीन कर लेता है। आत्म का यह संस्कार समष्टि के प्रेम में और भी प्रत्यक्ष हो जाता है—रागात्मिका वृत्ति को व्यष्टि के संकुचित वृत्त से निकालकर समष्टि की ओर प्रेरित करने से स्वभावतः ही उसका विस्तार हो जाता है। यहाँ अहं समाज के अहं से तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति जितना देता है उससे अधिक प्राप्त कर लेता है। यह ठीक है कि अधिक पाने के लोभ से प्रयत्नपूर्वक वह

※ जैनेन्द्र जी दोनों का पर्याय-रूप में ही प्रयोग कर रहे थे।

आत्म-दान नहीं करता, परन्तु इससे हमारी धारणा में बाधा नहीं पड़ती. हमारा निवेदन केवल यही है कि इस प्रकार अन्त में आत्मा का लाभ ही होता है, हानि नहीं ।×

अब प्रश्न का दूसरा अंश लीजिए : लेखक की इस आत्माभिव्यक्ति का दूसरों अर्थात् समाज के लिए क्या उपयोग है ? पहला उपयोग तो यही है कि सहानुभूति (sympathy) के द्वारा सामाजिकों को उससे परिष्कृत आनंद उनकी संवेदनाओं को समृद्ध करता हुआ उनके व्यक्तित्वों को समृद्ध बनाता है—जीवन से रस उत्पन्न करता है, पराजय और क्लांति की अवस्था में शांति और माधुर्य्य का संचार करता है । इस प्रकार की निश्छल आत्माभिव्यक्तियों ने सामाजिक चेतना का कितना संस्कार किया है, इसका अनुमान लगाना आज कठिन है । हिन्दी की रीति-कविता को ही ले लीजिए—आज उसे प्रतिक्रियावादी कविता कह-

---

× परन्तु यह भूमि अपेक्षाकृत कठिन है—व्यष्टि-गत प्रेम जितना सहज और सुलभ है, उतना समष्टि-गत प्रेम नहीं है । इसमें आत्म-प्रवंचना एवं प्रदर्शन के लिए स्थान अधिक है—इसीलिए नेता लोग आत्म का संस्कार करने की अपेक्षा प्रायः अहंकार का संवर्धन कर लेते हैं । देश और समाज के बड़े-बड़े नेता पुष्कल यश और योग्यता के होने पर भी प्रायः उत्तम साहित्य की सृष्टि में असफल रहते हैं और एक साधारण अपने में खोया हुआ व्यक्ति उसमें सफल हो जाता है, उसका कारण यही है कि नेता के जीवन में प्रदर्शन के अवसर अधिक और आत्म-साक्षात्कार के क्षण विरल होते हैं, और ऊपर से असामाजिक दिखने वाले इस व्यक्ति को अपने प्रति ईमानदार और निश्छल होने के क्षण अधिक मिलते रहते हैं । किसी वृहत् आंदोलन को लेकर खड़े होने वाले की स्थिति इनसे भी अधिक जटिल है—क्योंकि उसमें सिद्धांत की बौद्धिकता और उसके साथ प्रदर्शन का मोह भी अधिक रहता है ।

कर लांछित किया जाता है, और एक दृष्टि से यह आरोप सर्वथा उचित भी है, परन्तु उसके मधुर छंदों ने पराभव-मूढ़ समाज की कोमल वृत्तियों को सरल रखते हुए उसकी जड़ता को दूर करने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योग दिया था, इसका निषेध आज क्या कोई समाज-शास्त्री कर सकता है। बड़े-बड़े लोकनायकों ने अपने संघर्ष-क्लांत मनों को इसी की संजीवनी से सरस किया। लेनिन-जैसे समष्टिवादी नेता पर पुश्किन की वैयक्तिक अभिव्यक्तियों का कितना गहरा प्रभाव था, इसको वह स्वयं लिख गया है। कहने का तात्पर्य यह है कि लेखक की निश्छल अभिव्यक्ति के द्वारा जो परिष्कृत आनन्द प्राप्त होता है वह स्वयं एक बड़ा वरदान है—नैतिक एवं सामाजिक मूल्य से निरपेक्ष भी उसका एक स्वतन्त्र महत्त्व है जिसको तुच्छ समझना स्थूल बुद्धि का परिचय देना है।

परन्तु मैं नैतिक एवं सामाजिक मूल्य का निषेध नहीं करता। जीवन में नीति और समाज की सत्ता अकाट्य है—मनुष्य सामाजिक प्राणी है, सामूहिक हित उसके अपने व्यक्तिगत हितों से निश्चय ही अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। समाज की संघ-शक्ति व्यक्ति की अपनी शक्ति की अपेक्षा निश्चय ही अधिक प्रबल है। समाज के संगठन और हितों की रक्षा करने वाले नियमों का संकलन ही नीति है। समाज के प्रत्येक व्यक्ति को उसकी अपेक्षा करनी होगी। लेखक मनुष्य रूप में समाज का अविभाज्य अंग है—साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसमें प्रतिभा अधिक है अतएव उसी अनुपात से उसका दायित्व भी अधिक है। जिस समाज ने उसे जीवन के उपकरण दिये, बौद्धिक और भावगत परम्पराएं दीं उसका ऋण-शोध करना उसका धर्म है। इससे स्वार्थ-साधना की संकुचित भूमि से उठकर उसके अहं का उन्नयन और विस्तार होता है और इस प्रकार उसको अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों की ही सिद्धि होती है। परन्तु ये सब तर्क नैतिक

हैं, साहित्यिक नहीं, उपर्युक्त कर्तव्य-निर्णय सामाजिक का है, लेखक का नहीं। और स्पष्ट शब्दों में सामाजिक के रूप में लेखक निस्संदेह उपर्युक्त दायित्व से बँधा हुआ है—और उसके निर्वाह में यदि त्रुटि करता है तो वह नैतिक दृष्टि से अपराधी है, परन्तु लेखक के रूप में उसके ऊपर इस प्रकार का बन्धन नहीं है, लेखक के रूप में उसका दायित्व केवल एक है—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। समाज का तिरस्कार करने से उसके आत्म की क्षति होगी और उसी अनुपात से उसके साहित्य के वस्तु-तत्त्व (Content) की भी हानि होगी, परन्तु जब तक वह निश्छल आत्माभिव्यक्ति करता रहेगा, उसकी कृति मूल्यहीन नहीं हो सकती। क्योंकि निश्छलता का सात्विक आनन्द वह तब भी अपने को और अपने समाज को दे सकेगा। इसी तथ्य को दूसरे प्रकार से भी प्रस्तुत किया जा सकता है। एक व्यक्ति है जो सामाजिक दायित्व के प्रति अत्यन्त सचेत है—वैयक्तिक स्वार्थ-साधन छोड़कर समाज-सेवा में ही वह अधिकांश समय व्यतीत करता है। उसका व्यक्तित्व बहुत-कुछ सामाजिक एवं सार्वजनिक हो गया है। समाज के लिए उसने बहुत-कुछ बलिदान किया है, उसकी आवाज़ में शक्ति है और मान लीजिए, यह व्यक्ति लेखक भी है, तो यह आवश्यक नहीं है कि उसका साहित्य एक दूसरे व्यक्ति के साहित्य से, जिसके व्यक्तित्व में सामाजिक गुण नहीं हैं, अनिवार्य्यतः उत्कृष्ट ही होगा। उत्कृष्ट होने के लिए उसमें एक और गुण होना चाहिए—निश्छल आत्माभिव्यक्ति। आत्माभिव्यक्ति के दो अंग हैं—एक आत्म और दूसरा उसकी निश्छल अभिव्यक्ति; इनमें भी निश्छल अभिव्यक्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसके बिना कृति को साहित्य होने का गौरव ही नहीं मिल सकता। आत्म भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अभिव्यक्ति की निश्छलता समतुल्य होने पर आत्म की गरिमा ही सापेक्षिक महत्त्व का निर्णय करेगी। वास्तव में महान् साहित्य की सर्जना उसी लेखक के लिए सम्भव है जिसका

आत्म महान् हो। जब तक उसका अहं महान् अर्थात् उन्नत, विस्तृत और गम्भीर नहीं है, तब तक उसकी कृति महान् नहीं बन सकती-- मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि अहं का यह उन्नयन, विस्तार और गाम्भीर्य्य व्यष्टि के वृत्त से निकलकर समष्टि के साथ तादात्म्य करने से ही बहुत-कुछ सम्भव है। (विश्व-कवियों के जीवन में इस प्रकार का तादात्म्य सदैव रहा है।) परन्तु इस विषय में मेरे दो निवेदन हैं—एक तो यह कि इतना सब-कुछ होते हुए भी अभिव्यक्ति की निश्छलता ही साहित्य का पहला और अनिवार्य्य लक्षण हैं। महान् व्यक्तित्व के अभाव में कोई कृति महान् साहित्य नहीं हो सकती, पर निश्छल अभिव्यक्ति के अभाव में तो वह साहित्य ही नहीं रहती, केवल व्यक्तित्व की महत्ता उसे साहित्य का गौरव नहीं दे सकती। दूसरा यह कि व्यक्तित्व की महत्ता अर्थात् उसका विस्तार और गाम्भीर्य जीवन के महत्तर मूल्यों के साथ तादात्म्य करने से प्राप्त होते हैं, और ये महत्तर मूल्य अंत में बहुत-कुछ समष्टि-गत मूल्य ही होंगे, यह ठीक है। परन्तु इनका निर्णय स्थूल दृष्टि से, बाह्य (सामाजिक और राजनीतिक) आंदोलनों को सामने रखकर नहीं करना होगा, वरन् व्यापक और सूक्ष्म धरातल पर देश और काल की सीमाओं को तोड़कर बहती हुई अखण्ड मानव-चेतना के प्रकाश में ही करना होगा। प्रत्येक युग और देश अपनी समस्याओं में खोया हुआ, इस सत्य का तिरस्कार कर सामयिक आवश्यकताओं के अनुसार साहित्य पर भी अधकचरे निर्णय देता रहा है, परन्तु इतिहास साक्षी है कि ये निर्णय अस्थायी ही रहे हैं। सामयिक आवश्यकताएँ पूरी हो जाने पर उस अखण्ड मानव-चेतना ने तुरन्त ही अपनी शक्ति का परिचय दिया है, और उन निर्णयों में उचित संशोधन कर दिया है। 'समय ही साहित्य का सबसे बड़ा आलोचक है' यह मान्यता उपर्युक्त तथ्य की ही स्पष्ट स्वीकृति है। यहाँ अखण्ड मानव-चेतना की बात सुनकर शायद आप

चौंक उठें, परन्तु मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि यह बड़ा निर्दोष शब्द है, इसके द्वारा मैं किसी आध्यात्मिक तत्त्व की ओर रहस्य-संकेत नहीं कर रहा। एक युग और एक देश की चेतना से भिन्न जो युग-युग और देश-देश की व्यापक चेतना है, उसी से मेरा अभिप्राय है। ऐसी चेतना आध्यात्मिक रहस्य न होकर एक भौतिक तथ्य ही है।

पारिभाषिक शब्दावली की सहायता लेकर कहा जा सकता है कि एक युग और देश की चेतना का सम्बन्ध राजनीतिक अथवा सामाजिक नैतिक मूल्यों से है, और युग-युग तथा देश-देश की चेतना का सम्बन्ध मानवीय मूल्यों से है। इन दोनों में साधारणतः कोई विरोध नहीं है, वास्तव में मानवीय मूल्यों में सामाजिक नैतिक मूल्यों का अंतर्भाव हो जाता है, परन्तु विशेष परिस्थितियों में यदि विरोध हो भी जाय तो मानवीय मूल्य ही अधिक विश्वसनीय माने जायंगे।

पांच : : मार्क्सवाद और सौंदर्यशास्त्र

(प्रो० प्रभाकर माचवे)

साहित्य और कला के क्षेत्र में प्रगतिशील आलोचना-पद्धति के प्रवेश के साथ-साथ यह प्रश्न अत्यन्त महत्वपूर्ण होकर सामने आ गया है कि क्या मार्क्सवाद का सौंदर्यशास्त्र से कोई सम्बन्ध है ? और यदि है तो वह किस प्रकार है। इस समस्या पर स्पष्ट और सर्वाङ्गीण विचार न होने के कारण बहुत-सी गलतफहमियां आलोचना के क्षेत्र में फैल रही हैं। उदाहरणार्थ, वे छिछले आलोचक जो मार्क्स की दर्शन-पद्धति को पूरी तरह नहीं समझ पाते या ग्रहण नहीं कर सकते, वे उसे भौतिकवादी (यानी चार्वाक की तरह सुखवादी) कह कर टाल देना चाहते हैं, और कहते हैं कि मार्क्सवाद के मानी तो 'रति और रोटी' की छूट और मनुष्य का पुनः पशु बन जाना या आदिम मानव की भांति स्वच्छन्द बन जाना है। दूसरी ओर जो अधकचरे मार्क्सवादी हैं, वे मार्क्सवाद के एकांगी पक्ष को ही लेकर हर जगह, साहित्य और कला के इतिहास में भी, केवलमात्र आर्थिक मानदंडों का स्थूल रूप से प्रयोग करके उस तर्क पद्धति को एकदम शब्द-प्रामाण्य को, सनातनीत्व की कोटि में ले जाते हैं। इस प्रकार मार्क्स-वाद जो कि द्वंद्वात्मक भौतिकवाद का दूसरा नाम है, उसे सौंदर्य-शास्त्र पर घटित करने में बड़ी भूलें होने की संभावना है। अतः

प्रस्तुत निबंध में मैं प्रयत्न करना चाहता हूँ कि मार्क्स की जो विशेष तर्क-पद्धति थी, जो कि हेगेल के आदर्शवाद के विरोध में उसने प्रस्तावित की थी, उसका प्रयोग साहित्य-समीक्षा और कला-समीक्षा में किस प्रकार हो सकता है, उसकी क्या सीमाएं हैं और उसकी इष्टानिष्टता किन कारणों पर अवलंबित है।

मार्क्सवाद अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद की निम्न विशेषताएं हैं -पहिली बात तो यह है कि मार्क्सवाद एक बुद्धिग्राह्य, वैज्ञानिक दर्शन-पद्धति है। मनुष्य की सभी समस्याओं के विश्लेषण का प्रयत्न उसमें विवेकयुक्त किया जाता है। वहां किसी अदृश्य, अज्ञेय, अपरोक्ष सत्ता या रहस्यात्मक शक्ति पर अवलंबित नहीं रहा जाता। जो है, प्रत्यक्ष, प्रयोग्य और तर्क की सीमा में है। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' कहकर वहां समस्या को टाला नहीं जाता। दूसरी बात यह है कि मार्क्सवाद एकांगी दर्शन नहीं है; वह आज उसके राजनैतिक रूप में कुछ कठमुल्लापन भले ही दिखलाता हो; दार्शनिक या सैद्धान्तिक पक्ष में वह शब्द-प्रामाण्य का घोर विरोधी है; वह मानवी अनुभव की समग्रता, विशालता और सर्वव्यापकता को अपनी सम्पूर्णता के साथ ग्रहण करना चाहता है। समाज और उसके विकास की सभी अवस्थाओं का वह विश्लेषण करता है। अतः वह किसी भी मत या वाद को अछूत नहीं मानता। वहां ऐसा भेद-भाव नहीं है कि केवल आस्तिक दर्शन ही पढ़े जायं, नास्तिक दर्शनों को जरा सौतेले बच्चों की भांति दूर रखा जाय। मार्क्सवाद की तीसरी विशेषता यह है कि वह परिवर्तनशील, विकासगामी दर्शन है। वह 'कूटस्थमचलमध्रुवम्' कह कर किसी ब्रह्म का पिंड पकड़कर नहीं बैठ जाता। वह उन अंधों की तरह नहीं कि जो हाथी के अंग विशेष को पकड़कर उसी को समूचा हाथी मान ले। वह गत्यात्मक दर्शन है। अत: वह स्थितिस्थापकवादी नहीं। साथ ही वह उन्नीसवीं सदी के सुधारवादी व्यक्तिवादी लिबरलों की भांति इस परिवर्तन को निरा प्राकृतिक चक्रनेमि क्रम,

मानकर चुप नहीं रह जाता। यह परिवर्तन मानवनिर्मित है, इसका उसे पूरा भरोसा है। इसी कारण मार्क्सवाद एक सक्रिय दर्शन है; वह उन मृत दर्शनों में से नहीं जिनमें सिर्फ पुराण-वस्तु-संशोधन ही हो सकता है; कोई नई प्राणवान चेतना शेष नहीं है। और जब यह कहा जाता है कि मार्क्सवाद क्रियाशील कर्मण्य दर्शन है तो उसका अर्थ यह कदापि नहीं कि यह क्रिया अंध अवेग पर आश्रित, फासीवादियों की 'क्रिया के लिए क्रिया' (संगठन के लिए संगठन) जैसी है; परन्तु एक वैज्ञानिक की-सी सुनियंत्रित विचार पर आश्रित, समय-परिस्थिति के अनुसार संघटित क्रिया है। इसी कारण मार्क्सवादी दर्शन मृत्यु-पूजक और शून्यवादी दर्शन नहीं। वह आशावादी दर्शन है। आशा प्रयोग और अनुभव पर आश्रित रहती है। मार्क्सवाद संसार के इतिहास का विश्लेषण करके कुछ अनुभव एकत्रित करता है; सामाजिक शक्तियों के महत्व को बतलाता है। अतः वह भविष्य के लिए, इतिहास के प्रकाश में, एक नवीन आशा का संचार कराता है।

मार्क्सवाद अथवा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद को समझने के लिए यह आवश्यक है कि उसमें के तत्व और उसकी तर्क-पद्धति को अलग-अलग करके समझा जाय। मार्क्स ने सत्रहवीं और अट्ठारहवीं शती के यौरपीय दार्शनिकों का उदार, नवीन ज्ञान को ग्रहण करने वाला दृष्टिकोण अपनाया और उसमें उन्नीसवीं सदी की वैज्ञानिकता मिलाई। इसी कारण बाह्य जगत की वस्तुनिष्ठ आलोचना करके संयत और संतुलित ढंग से क्रियात्मक ज्ञान को मार्क्स ने अपने विचार का आधार बनाया। इस विश्व में विभिन्न तत्वों में कैसा परस्पर सम्बन्ध है यह मार्क्स ने देखा-वस्तु निष्ठ और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण में, जीवित और जड़ पदार्थों में, मानवी स्वभाव और समाज-व्यवस्था में, चेतन मन और अचेतन सृष्टि में। जो द्वैत मानकर पुराने दार्शनिक संतुष्ट हो गए थे, मार्क्स ने उस द्वैत के कवच को थोड़ा और बताया कि इस प्रकार द्वैत की

कल्पना करना, आत्म को अनात्म से अलग मानना समस्या से पलायन करना है। हेगेल की भांति केवल आदर्शवाद की झीनी झिल्ली चढ़ा कर भी समस्या नहीं सुलझती। देखना होगा कि इन परस्पर विरोधी माने जाने वाले तत्वों में कैसा अविरोध है, कैसा परस्परावलंबन है। खाद अनाज नहीं है, परन्तु खाद के बिना भी अनाज नहीं है। कोरा-बीज कुछ नहीं कर सकता—अगर मिट्टी, पानी, क्षार, खाद आदि सब कारण-खंडों का समवाय न हो और बीज से बनने वाला अनाज का अंकुर जैसे बीजत्व खोता है, वैसे जिस मिट्टी की पर्त के साथ उसे लड़ना पड़ा है उसी में से बहुत-सा आत्मसात् कर उसके मिट्टीपन को भी खोने के लिए बाध्य करता है। यों दो के विरोध से तीसरा ही एक विकास उत्पन्न होता है। आज अंग्रेज भारत में डेढ़ सौ वर्ष तक अपने पैर जमा गये। आप कहें कि वे अपने साथ जो रेल-तार और कई आधुनिक वैज्ञानिक सभ्यता की यांत्रिक बातें लाये हैं वे चुटकी से मिटा दी जाय, और फिर हम 'रामराज्य' की ओर या अशोक-साम्राज्य या शिवाजी की 'हिन्दूपद पादशाही' की ओर लौट चलें तो वह असम्भव है। साहित्य और कला के क्षेत्र में भी चाहे जितनी 'तपस्या' और 'साधना' करो, फिर दूसरा वाल्मीकि, कालीदास या तुलसीदास सम्भव नहीं। उनके गुणों की दुहाई देना भी सार्थक नहीं क्योंकि युग बदला, उसके साथ समस्याएं भी बदलीं; और शायद आज उन कविश्रेष्ठों में से कोई जीवित होकर आता तो सम्भवतः वह स्वयम् अपने पुराने रूप पर हंसता या सहानुभूतिपूर्वक कहता—'ओह, तब मानव जाति कैसी शैशवावस्था में थी। समस्याएं कितनी सरल थीं। आज वाल्मीकि या होमर को, कालिदास या शेक्सपीयर को कथा बांचकर जनाश्रय या राजाश्रय सहज नहीं मिलता; उसे अपनी काव्यपुस्तक की कितनी आवृत्तियां बिकें और उसका प्रकाशक उसे 'कोर्स' करा सका है या नहीं, उसे अमुक-अमुक पुरस्कार प्राप्त है या नहीं आदि बातों का भी विचार करना ही पड़ता। नहीं तो वह भी किसी 'बिसराम' या ईसुरी

की तरह कहीं अदर्शित रूप से अपनी प्रतिभा की कांति में दीप्त, विकसित होता, मुरझा जाता।

मार्क्सवाद के तत्त्वों की भांति उसकी पद्धति भी भिन्न प्रकार की है। उसमें सृष्टि कर्तृत्व किसी शेषशायी को सौंपकर चैन की नींद नहीं ली जाती। उसमें भौतिक विकास सृष्टि पर जीवजात के आरम्भ का—प्राणीशास्त्र, भूतशास्त्र, बनस्पतिशात्र नृ-विकास-शास्त्र के आधार पर सूक्ष्म अध्ययन कर कुछ निर्णयों पर पहुँचा जाता है। उसमें पृथ्वी पर पाप का भार बढ़ते ही श्री विष्णु या श्री शिव (जो भी ड्यूटी पर हों) एक दम अवतार नहीं ले लेते; ऐसे चमत्कारों में किसी भी वैज्ञानिक पद्धति का विश्वास नहीं हुआ करता। उसमें प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है। भौतिक कार्य का भौतिक कारण ही हो सकता है। प्रत्येक कदम से पहिले कुछ घटित हो चुका है। प्रत्येक क्रिया कई क्रिया प्रतिक्रियाओं का प्रतिफल होती है—और इस प्रकार एक तर्कसंगत सरणि से विचार भी बढ़ा करते हैं। वहाँ फाशीवादी चिन्ता के ढंग पर सोचने का काम किसी वर्ग, जाति या मुट्ठी भर विशेषज्ञों या उनके अभाव में परमात्मा के चुने हुए, प्रेषितों, तानशाहों के लिए 'रिज़र्व' नहीं किया जाता। वहाँ सब मन सोचते हैं, सोच सकते हैं, इस बात मानकर चला जाता है।

सौंदर्यशास्त्र मनोविज्ञान और समाजविज्ञान से सम्बन्धित एक प्रयोगावस्था में से जानेवाला विज्ञापन है और शुद्ध दर्शनों में उसे स्थान नहीं दिया जाता। और वैसे तो मार्क्सीय विवेचना पद्धति पर भी अनेक आक्षेपक मिल जावेंगे। मैं मार्क्सीय तर्क पद्धति को मानता हूँ इसका अर्थ मैं शब्द प्रामाण्यवादी नहीं हूँ, तथा द्वंद्वात्मक भौतिकवाद में विश्वास करता हूँ, यह स्पष्ट है।

मार्क्सीय तर्कपद्धति की चार विशेषताएं हैं—(१) 'वस्तु' और 'स्व' का द्वंद्वात्मक सम्बन्ध, (२) राशि का गुणात्मक परिवर्तन,

(३) नकार का नकार, (४) इतिहास का भौतिक, वैज्ञानिक विकास-विश्लेषण।

सौंदर्य-मूल्य की अपेक्षा से प्रथम विशेषता का अर्थ यह है कि सिनार बेनेदेत्तो क्रोचे मानते हैं वैसे कला केवल आंतरानुभव या शुद्ध 'प्रमा' (इन्टियूशन) नहीं हो सकती। विज्ञानवादियों, आदर्शवादियों की या (Existentialists) की गलती 'विवर्त' (सोलिप्सिम) में इस प्रकार हम पहुंचेंगे। शेक्सपीयर की कल्पना, अथवा कालिदास की अनुभूति का सौंदर्य कोई दैवायत्त, अतीन्द्रिय घटना नहीं। शेक्सपीयर की या कालिदास की देश-काल-परिस्थिति-विशेष का प्रभाव अवश्य उनके मन पर पड़ा होगा; अन्यथा कलाकार के मन की विशेष-सुकुमारता, अतिसंवेदनशीलता का क्या अर्थ? यह हम मान्य कर सकते हैं कि श्रेष्ठ साहित्यकार अपने युग का निरा फोटोग्राफर या ध्वनिक्षेपक यंत्र नहीं होता, उसे आगे ठेलता है, इसी में उसकी श्रेष्ठता निहित है। परन्तु यह कहना कि उनकी सौंदर्य-निर्मिति दिक्कालातीत थी या होती ही है, इस बात का कोई प्रमाण नहीं। इससे यह सिद्ध होता है कि अब दुबारा कालिदास, तुलसीदास या प्रेमचन्द की अवतारणा असंभव है। उन-उन लेखकों या कलाकारों की मानवीयता, उदारता, विद्रोही-वृत्ति आदि गुणों द्वारा उनकी सौंदर्य-दृष्टि परिमित-निर्णीत अवश्य हुई होगी परन्तु इस कारण से, अन्य व्याप्तियों से, असंपृक्त, केवल आदर्श, सर्व-सामान्य भाववाचक शब्द लेकर उन्हें विश्व के आदिकाल से आजकल अपरिवर्तनीय, सनातन, शांकरब्रह्म जैसी कूटस्थमचलमध्रुवम् वृत्तियां मानना इतिहास तथा मानवविकास विज्ञान के विषय में अपना अज्ञान व्यक्त करना है।

राशि का गुणात्मक परिवर्तन सौंदर्य शास्त्र में भी अवश्य कार्यक्षम है। आदिम मानव की स्थूल, मांसलुब्ध, ऐंद्रेयिक सौंदर्यवृत्ति सभ्यता के विकास के साथ-साथ सूक्ष्मतर, अधिक मानसिक तथा बौद्धिक होती जा रही है और इसी कारण एक भील, गोंड या संथाल अबुलकरीम

खां के आलाप या पिकासो के चित्र नहीं समझ सकता। परन्तु भील, गोंड या संथाल के गाने या नृत्य, हममें से कुछ 'प्यूरिटनों' को छोड़ कर, सुसंस्कृत मानव को भी आनन्द देते हैं—यह इस बात की साक्षी है कि हम में अभी भी पशु-वृत्तियां विद्यमान हैं; और अभी हम शा के 'राम राज्य' के सेक्स-हीन मानव नहीं बन गए हैं। सौंदर्यानंद के इस प्रकार शारीरिक वृत्तियों से निबद्ध होने के कारण कई विशुद्ध दार्शनिक इसे दर्शन का अंग नहीं मानते। दर्शन शास्त्र ने (जैसे सांख्य या सूफ़ी) इस प्रकार के सुन्दर संकेतों-प्रतीकों का आश्रय अवश्य लिया है। परन्तु सौंदर्य के क्षेत्र में सामाजिक यथार्थवाद की चर्चा उन्हें अस्वाभाविक और अप्रिय जान पड़ती है। एक व्यक्ति की सौंदर्य-कल्पना और एक भीड़ की सौंदर्य-कल्पना में स्पष्ट भेद है—यह कोई भी मनोवैज्ञानिक मानेगा। भीड़ में व्यक्ति अपनी वैयक्तिकता भूल जाता है; उसमें 'साधारणीकरण' अधिक मात्रा में जागृत होता है; वह अधिक बालवत्, तथा अधिक पशुतुल्य बनता है, ऐसे भी मत मैकडूगल, आदि देते हैं। ऐसी स्थिति सौंदर्य-सृष्टि और दृष्टि भी समूह में गुणात्मक रूप से परिवर्तित होती ही है यह मानना होगा।

'नकार का नकार' यह सिद्धान्त सौंदर्य तथा उसके विपरीत असुन्दर के मान-निर्णय में हमें ध्यान में लेना होगा। ड्यूई की पुस्तक 'कला और अनुभव' में इसकी विस्तृत चर्चा है। वस्तुतः 'असुन्दर' हमारे संस्कार से अधिक क्या है? काव्य में जिन दोषों की चर्चा हमारे रीतिशास्त्री करते थे, वे प्रायः सभी कम-अधिक मात्रा में प्राचीन श्रेष्ठ काव्यों में भी और अधिकांश आधुनिक कविता में मिल जायंगे, परन्तु इससे क्या उनकी महत्ता कम कही जायगी? परन्तु कहीं-न-कहीं हमें सुन्दर असुन्दर, सुरुचि कुरुचि के बीच सीमारेखा तो खींचनी ही होगी। आस्कर वाइल्ड, पेटर पंथी आलोचक और शिलर-कांट आदि शुद्ध प्रज्ञावादी कलाकार को, सौंदर्य पूजक को अतीतिमान मान ही नहीं सकते। उनके लेखे 'सुन्दर' और 'सम' के क्षेत्र जैसे एक-दूसरे से स्वतन्त्र हैं।

कला नीति-अनीति से परे है। कला का अपना स्वतंत्र तर्क है। परन्तु यह 'स्वातंत्र्य' अपने आप में कोई अर्थ नहीं रखता, न यह नीति-अनीति से परे वाला नारा ही — 'आदमी अपने कंधे नहीं चढ़ सकता।' सुन्दर भी अपनी सीमाओं से परे नहीं जा सकता — जहां वह सीमा का अतिक्रमण करने का अप्राकृतिक प्रयत्न करेगा वहीं असुन्दरता आ जायगी। परन्तु जैसे कीचड़ कमल की अवश्यम्भावी शर्त है या खाद पौधे के लिए अनिवार्य है, सौंदर्य-भावना या सौंदर्य-विचार के पीछे भी अन्य सामाजिक असुन्दरताओं की विवेचना आ ही जाती है—वैयक्तिक नहीं, सामाजिक।

इतिहास के भौतिक वैज्ञानिक विवेचन का साहित्य-कला अथवा अन्य सौंदर्य-प्रक्रियाओं पर आरोप हमारे कई आलोचक मित्रों को कुपित कर देता है। वे आरोप करते हैं कि क्या शेक्सपीयर की रचना में कोई आर्थिक आशय खोजेंगे या कालिदास की शकुंतला में सामंतवादी वृत्ति ही? वे पूछते हैं कि आज तो मजदूर या अछूत के दुख-दर्द सुन्दर कला के आलम्बन हो सकते हैं, परन्तु कल जब समानता और जाति विरहित समाज-व्यवस्था बन जायगी, तब इस कला का क्या मूल्य होगा? तब उसे किस मापदंड से नापोगे? और पक्के गाने, केवल रंगों के खेल या परियों की कहानियों आदि के सौंदर्य की विवेचना इस आर्थिक-भौतिक विवेचना से कैसे की जायगी? एन्गेल्स और पाल अर्न्स्ट के बीच में "साहित्यालोचना में 'यांत्रिकता और ग्राम्यता' पूर्ण मार्क्सवाद" के विषय में जो विस्तृत पत्र-व्यवहार हुआ है, उसकी ओर मैं ध्यान दिलाना चाहता हूँ। उत्पादन के साधनों पर जिस वर्ग का स्वामित्व होगा उसके अनुसार साहित्य-कला आदि सौंदर्य निर्माणात्मक क्रियाओं में भी अवश्य परिवर्तन होता आया है। इतिहास साक्षी है कि किस युग में शासक-समाज ने उत्कृष्ट कला को खरीदने का निज सुख का साधन बनाने का प्रयत्न नहीं किया? किस युग में सच्चे कला-

कार ने इस शोषण और निर्बंधन के विरुद्ध अपना स्वर ऊंचा नहीं उठाया ? और 'संतन को कहा सीकरी सो काम ?' का आदर आप उतना ही करते हैं कि जितना अनर्स्ट टौलर का सात नाटकों की भूमिका में लिखना—'परन्तु एक तानाशाह की वाणी से एक कलाकार की वाणी अधिक काल तक और अधिक दूर तक पहुँचेगी।' इतिहास चमत्कारों की गठरी नहीं। वह एक निरा उत्थान-पतन का 'प्रतीत्यसमुत्पाद' ही नहीं। न ही वह एक आवर्त-मात्र है कि स्पैंग्लर की भांति पुनः प्रलयोन्मुख हो। इतिहास निश्चितरूपेण मानव जीवन को अधिकाधिक समुन्नत बनाता है। उस दशा में कला के लिए कला, निरे नक्काशीवाले सौंदर्यवाद का मूल्य क्या रहेगा ? मार्क्स ने एन्गेल्स को १८७३ में एक पत्र में लिखा था—'मैंने सांब्यूव की शातोब्रियां पर पुस्तक पढ़ी। मुझे शातोब्रियां हमेशा नापसन्द रहा। इस व्यक्ति को फ्रांस में इसलिए प्रतिष्ठा मिली कि इसने फ्रांसीसी अहंता को गुदगुदाया, अट्ठारहवीं सदी की हलकी अहंता नहीं, परंतु नये रोमैंटिक पोशाक और ताजा सिके शब्दों की सजावट से बनी अहंता का वह प्रतीक है। उस अहंता का अर्थ है झूठी गहराई, बायजरियनों का-सा अतिरेक, भावुकता का छिनालपन, वैभव-प्रदर्शन—एक शब्द में आशय और आकार दोनों में अभूतपूर्व मिथ्या मिश्रण।'

जर्मन महाकवि गोहटे ने इसी कारण कहा था कि—

'वाट वेअर आई विदाउट दी

ओ माई फ्रेंड दी पब्लिक ?

आल माई इम्प्रेशन्स मौनोलोग्ज साइलेंट आल माई जौइज।'

(अर्थात् हे मेरी मित्र जनता ! मैं तुम्हारे बिना कहां रहता ? मेरे सब भाव निरे एकमुखी भाषण होते, और मेरे सब आनन्द मूक रहते, उनका सहभागी कौन होता ?)

और आज का समकालीन फ्रांसीसी क्रांतिकारी प्रगतिशील कवि

लुईअरैगा ने अपने 'ल यू देल्सा' (१६४३) की भूमिका में स्पष्टतः कहा है—'ज शांते लोमे । इत् मां शां ने से प्यू रिफ्यूजे दीत्र । पार की स्तू लोमे मीम दांत् ला रैजन दीत्र ईस्त् ला वी......तु ई मा स्यू फेमील अवौई, इत जे वांइ पारती यू लां मांद्' (अर्थात् मैं मनुष्य के गीत गाता हूँ । और मेरे गीतों का अस्तित्व समाप्त नहीं हो सकता, क्योंकि मनुष्य के ही अस्तित्व का आधार जीवन है ।...तुम ही मेरे माने हुए कुटुम्ब हो, मैं तुम्हारी ही आंखों से दुनिया को देखता हूँ ।) शहीदों की याद में लिखी एक कविता के अन्त में वह कहता है 'द मं क्वी सांई ए नो साइफ हूँ यू फ्रैश !' (मेरे शब्द प्यासों के लिए ताजे पानी का काम करेंगे !

वस्तुतः इतिहास के विकास में जिन सामाजिक परिस्थितियों का और घटनाओं का विशेष हाथ रहता है उन्हें न समझने के कारण इतिहास के प्रति एक स्थित्यात्मक दृष्टिकोण होने के कारण, हमारे कई समीक्षक बड़ी भूल कर जाते हैं । और फिर प्रगतिशील आलोचक उन्हीं भूलों को लेकर विज्ञापित करते हैं । इसके लिए मार्क्स और एंगेलस के साहित्य-कला सम्बन्धी कुछ विचार-सूत्रों का यहां अविकल अनुवाद देना अधिक उपयुक्त होगा —

(१) इतिहास और आर्थिक कारण

फ्रेड्रिक एंगेल्स के कान्नड श्मिड्ट को २७ अक्टूबर १८६० को लिखे पत्र से —'यद्यपि प्रकृति के अधिकाधिक विकसित ज्ञान के मूल में आर्थिक कारण ही प्रमुख थे, तथापि मानव जाति के आदिम विकास काल में भूत प्रेत में विश्वास, जादू-टोने के चलन इत्यादि के मूल में आर्थिक कारण खोजने बैठना सचमुच निरा पौस्तक व्यवसाय होगा । विज्ञान का आरम्भ इससे हुआ अवश्य, परन्तु ज्यों-ज्यों समाज की आर्थिक उत्पादन-व्यवस्था बदलती गई, संस्कृति का रूप बदलता गया । उदाहरणार्थ अट्टारहवीं सदी में फ्रांस और जर्मनी में, दर्शन-साहित्य

कला का विकास आर्थिक विकास के साथ-साथ चला। उस समय के आर्थिक प्रभावों का सूक्ष्म, अपरोक्ष प्रतिबिंब उस समय के दर्शन-विज्ञान विचार-धारा में भी मिलता है। इस प्रकार आर्थिक कारण कुछ एकदम नया या चमत्कारिक निर्माण नहीं कर देते परन्तु ऐसी परिस्थिति की जमीन बना देते हैं कि जिससे विचार-धारा बनती है, और आगे बदलती या बढ़ती है। राजनैतिक, वैधानिक, नैतिक क्रिया-प्रतिक्रिया का ऐसा सिलसिला बन जाता है, कि जिनका विचार-क्षेत्र पर प्रभाव पड़ता ही है।......आर्थिक कारणों से तात्पर्य समूची उत्पादन-व्यवस्था से है। वही इतिहास के विकास को निश्चित करती है। हमारी जाति-वर्ण आदि सभी आर्थिक तत्त्व हैं। जब यह कहा जाता है कि राजनैतिक वैधानिक, दार्शनिक, धार्मिक, साहित्यिक, कलात्मक विकास अंततः आर्थिक विकास पर अवलंबित हैं तब उसका अर्थ यह है कि यह सब विकास एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। आर्थिक कारण अकेला कारण नहीं। सभी कारण कार्यशील होते रहते हैं; परन्तु आर्थिक आवश्यकता अंततः अपने आपको सबसे अधिक प्रभावशाली बना लेती है। राज्य-व्यवस्था भी उससे नियोजित होती है। मनुष्य अपने इतिहास का स्वयम् निर्माता है। परन्तु अभी वह स्थिति नहीं आ पाई है। आज तो मानव मानव के स्वार्थों में संघर्ष होता रहता है। कारण,अभी समाज व्यवस्था आवश्यकताओं से शासित है, जो कि अलग-अलग 'आकस्मातों' (एक्सीडेंट्स) के रूप में प्रकट होती रहती हैं। यह आवश्यकता आर्थिक है। यहीं महापुरुषों का निर्माण सम्भव होता है। वे समाज-व्यवस्था को बदलना चाहते हैं, परन्तु वे अपनी ही परिस्थितिओं की उपज होते हैं। एक महापुरुष को यदि उसके देश-काल परिस्थिति से अलग निकाल कर देखें तो उसकी महत्ता नष्ट होने का भय है, और इसी प्रकार से यदि वह महापुरुष न भी हो तो अन्य हो सकता था।

(२) सौंदर्य के नियमों के अनुसार सचेतन उत्पादन और रचना

कार्ल मार्क्स के 'ओईकौनौमिश-फिलासाफिश्चे मैन्युक्रिप्टे आउस

डेम जाहरे १८४४' से—'मनुष्य अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक सचेतन रचना करता है, यह मनुष्येतर सृष्टि और अचेतन प्रकृति की रचना के अध्ययन से स्पष्ट होगा। सचेतन से तात्पर्य है कि मनुष्य अपने प्रति उसी प्रकार व्यवहार करता है जैसे अपनी जाति के अन्य प्राणियों के प्रति, और अन्य प्राणियों के प्रति उसी प्रकार से पेश आता है जैसे अपने आप से। वैसे तो, पशु-पक्षी भी रचना करते हैं। छतें घोंसले, खोह, मकान-जैसी चीजें, मधुमक्खियां, बया, चींटी वगैरह बनाते ही हैं। परन्तु वे केवल अपने या अपने बाल-बच्चों की तात्कालिक आवश्यकताओं के लिए एकांगो उत्पादन करते हैं, मनुष्य सार्वजनिक और सर्वोपयोगी रचना करता है। पशु-पक्षी शारीरिक आवश्यकताओं के दबाव में रचना या उत्पादन करते हैं, मनुष्य शारीरिक आवश्यकताओं से परे, और वस्तुतः इन आवश्यकताओं से जब छुट्टी पा लेता है, तभी रचना करता है। पशु-पक्षियों आदि प्राणिजातों में केवल स्वयम् निर्माण करने की क्षमता है, मनुष्य तो पूरी प्रकृति को पुनर्निर्मित करता है, मथ डालता है। उनकी रचना उनके शरीर से सम्बन्धित रहती है, मनुष्य अपनी रचना का स्वतन्त्र रूप में उपयोग करता है। पशु अपनी जाति की नाप और मांग के अनुसार रचते हैं, मनुष्य सब जातियों की मांग के और नाप के अनुसार रचता है—इतना ही नहीं अपनी वस्तु का वास्तविक नाप कहीं भी पहुंचा सकता है। अतः मनुष्य भी सौंदर्य के नियमों से रचना करता है।'

(३) कला के मूल में श्रम का महत्त्व

फ्रेड्रिक एंगेल्स—'प्रकृति की द्वंद्वात्मकता' में—'जिस दिन पहली बार मानव ने चकमक के पत्थर पर पत्थर रगड़ कर अग्नि की चिनगारी पैदा की, तब से चाकू बनाने तक बहुत-सा काल बीत गया होगा। परन्तु एक महत्वपूर्ण घटना इस बीच में हुई—हाथ मुक्त हो गया। इसका अर्थ यह हुआ कि हाथ अब सिर्फ़ चकमक नहीं रगड़ेगा, वह अधिक कुशलता और कलात्मकता ग्रहण करने लगा, जो कि पीढ़ी

दर पीढ़ी बढ़ती गई। इस प्रकार हाथ न सिर्फ श्रम का एक अस्त्र है, परन्तु श्रम से उत्पन्न एक वस्तु भी है। ज्यों-ज्यों श्रम अपना रूप बदलता गया, हाथ की कला भी बढ़ती गई, हाथ की कुशलता ने भी अपना रूप ग्रहण किया। यों नव-नवीन प्रक्रियाएं सीख-सीख कर, उन का वंश-परंपरागत सामाजिकीकरण होते-होते मांस-पेशियां, शिराएं, बाद में हड्डियों तक अधिक संतुलित होती गईं, और मानव और भी उलझे हुए, और भी सूक्ष्म और पहले असंभव जान पड़ने वाले व्यापार करने लगा—यहाँ तक कि मनुष्य की कला अधिकाधिक पूर्णता ग्रहण करने लगी और वही आज राफाएल के चित्रों, थौरवालडसेन की मूर्तियों और पैगैनिनी के संगीत के रूप में हमें दिखाई देती हैं।

(४) सौंदर्य-वृत्ति का विकास

कार्ल मार्क्स उसी ऊपर उल्लेख किये ग्रंथ में—'संगीत से मनुष्य की संगीत-ग्राहक वृत्ति जागती है। सबसे अच्छा पक्का गाना भी जिसे गाना समझने के कान नहीं हैं उसके लिए निरर्थक है। इसलिए मेरी अपनी शक्ति और योग्यता पर बाह्य जगत् की रस-ग्रहणशीलता निर्भर करेगी। और यह मेरी शक्ति इंद्रियानुभूति की भी शक्ति कहां से बनी और जगी है? मानव-जाति की बढ़ती हुई वस्तुनिष्ठ संवेदनशीलता से ही न! केवल पांच ज्ञानेन्द्रिय नहीं परन्तु हमारे कर्मेन्द्रिय भी (यहां तक कि संकल्प, अनुराग आदि भी) संक्षेप में मानवी संवेदनशीलता और संवेदनशीलता की सृष्टि मनुष्य के वस्तु-ज्ञान पर, मानव-कृति प्रकृति-विजय पर निर्भर है। यह पांच ज्ञानेन्द्रियां आज जैसे बनी हैं, वह समूची मानव जाति के इतिहास से निर्मित हैं। वे इन्द्रियां जो कि स्थूल व्यावहारिक आवश्यकताओं से सीमित थीं, उनका अर्थ भी सीमित था। जैसे भूखे आदमी के लिए खाद्य का मानवीकृत रूप कोई अर्थ नहीं रखता—उसे तो केवल खाद्य का क्षुधा-निवारक रूप ही यथेष्ट है; उसे किसी खराब-से-खराब रूप में भी वह ग्रहण कर सकता है, और बुभुक्षित

और पशु के खाने में जैसे फर्क नहीं रह जाता उसी प्रकार चिंतित गरीबी से पीड़ित व्यक्ति के लिए उत्तम-से-उत्तम नाटक बेमाने हैं; और जो धातु का दलाल है उसे उस पीतल के बाजार दर से मतलब रहता है, न कि उस पीतल में किये भास्कर्य के सौंदर्य या मौलिकता से। यहां तक कि उस धातु-व्यापारी को धातु-विज्ञान का भी ज्ञान नहीं होता। अर्थात् मानवी अस्तित्व का वस्तु-करण सैद्धान्तिक और क्रियात्मक रूप में हमारी इंद्रियों को मानवीय बनाता है और मानवी और प्राकृतिक जीवन की विशद समृद्धि के समतुल्य मानवी में नवीन इंद्रियां या संवेदनशील वृत्ति को विकसित कराता है।' अंतिम वाक्य का पूरा भावार्थ अनुवाद में नहीं आ पाया इसलिए मूल का अंग्रेजी अनुवाद वाक्य देता हूँ—'हेन्स दी आब्जेक्टिवाइजेशन आफ ह्यूमन एक्जिस्टेन्स, बोथ इन दि थियोरेटिकल एण्ड प्रेक्टिकल वे, मीन्स मेकिंग मैंस सेन्सेज ह्यूमन ग्रेज वेल ग्रेज क्रिएटिंग ह्यूमन सेन्सेज कारस्पान्डिंग टु दी वास्ट रिचनेस आफ ह्यूमन एंड नेचरल लाइफ।'

(५) प्राचीन रूपों को कहां तक अपनाया जाय ?

कार्ल मार्क्स फर्डिनैंड लासाल को २२ जुलाई, १८६१ के पत्र में— 'तुमने सिद्ध किया है कि रोमन विधान को अपनाना गलतफहमी पर आधारित था। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि उसी विधान का आज का रूप—आज के विधानशास्त्री चाहे जितना पुनः रोमन विधान की गलतियों के आधार पर उसे ढालने की कोशिश क्यों न करते रहे हों तो भी रोमन विधान का गलत रूप है। इस प्रकार तो आने वाले युग द्वारा अपने से पहले युग का कोई भी रूप-ग्रहण गलत ग्रहण किया हुआ प्राचीन रूप कहलायेगा। लुई चौदहवें के काल के फ्रांसीसी नाटककार जिन त्रिसंधियों का प्रयोग करते थे, वह सिद्धान्त-रूप से यूनानी नाटकों में अरस्तू द्वारा बताई त्रिसंधियों का गलत प्रयोग था। परन्तु उन्होंने उन तीन संधियों का अपने काल की कला की आवश्यकता के अनुसार उपयोग कर लिया था, उन्हें अपने युग में ढाल

लिया था। इसी कारण डेसियर आदि के अरस्तू का सही-सही अर्थ देने के बाद भी वे अपने 'क्लासिकल' नाटकों से चिपटे रहे। उसी प्रकार से आज के कई आधुनिक विधान अंग्रेज़ी विधान के गलत समझे हुए रूप मात्र हैं। उदाहरणार्थ उत्तरदायी 'कैबिनेट' या प्रतिनिधि-परिषद जो कि इग्लैंड से भी नष्ट-प्राय हो गई और आज केवल ढांचे के रूप में शेष है। इस प्रकार जिसे हम प्राचीन रूप या रीति का गलत अपनाना कहते हैं, वह वस्तुत: उसका साधारणीकरण होता है, और समाज के विकास की एक अवस्था में केवल वही साधारण रूप संभव होता है।

कुत ब्लाडकाफ ने अपने लेख 'फ्रेडरिक एंगेल्स और भौतिकवादी सौंदर्य-शास्त्र' में (माडर्न क्वार्टर्ली, ग्रीष्म १९४६ में प्रकाशित) एंगेल्स ने कान्नड शिमड्ट को ५ अगस्त, १८९० में भेजे एक पत्र का अवतरण दिया है, जो हिन्दी के उन प्रगतिशील आलोचकों के लिए भी बहुत पठनीय है, जो भौतिकवाद को संकुचित अर्थ में लेते हैं—'हमारे कई तरुण लेखकों को 'भौतिकवादी' शब्द एक रामबाण की भांति जान पड़ता है, जो कि बिना विशेष अध्ययन के वे चाहे जिस चीज पर चाहे जहां प्रयुक्त कर देते हैं। हमारी इतिहास की कल्पना हमें आगे और अध्ययन के लिए प्रेरित करे ऐसी होनी चाहिए और वह केवल हेगेल-पंथियों की भांति यांत्रिक पुर्जे का रूप नहीं होनी चाहिए। सभी इतिहास नये सिरे से पढ़ना होगा, समाज-विकास की सभी परिस्थितियों का विचार करना होगा अलग-अलग से और एक साथ; और तभी उसमें से राजनैतिक, सामाजिक, सौंदर्य-विषयक, धार्मिक-दार्शनिक निर्णय हम निकाल सकेंगे।' इस प्रकार भौतिकवादी सौंदर्यशास्त्र के अध्येता के लिए एंगेल्स ने दो विचार-बिन्दु प्रधान रूप से दिये हैं—१ रूपात्मक पक्ष का विचार; अर्थात् वैचारिक पूर्वग्रह कैसे बनते हैं, २ समाज के आधार और बाह्यरूप में कैसे परस्पर-संघात होता है।

उसी प्रकार से साहित्य में वास्तववाद या यथार्थवाद का अर्थ

नग्न, भड़कीले वर्णन कदापि नहीं। एंगेल्स ने कुमारी हार्कनेस को उसके उपन्यास 'शहराती लड़की' (१८८८) की आलोचना में लिखा था कि—'लेखक अपने विचारों को जितना छिपाये रखे, उभरने न दे, उतनी ही कला अच्छी होगी।' कला में प्रचार किस हद तक हो, कला में जो यथार्थवाद दिखाया जाता है उसे जनता कहां तक समझती है, यह केवल हमारे देश के ही प्रश्न नहीं, फ्रांस में भी इस पर अभी भी बहुत वाद-विवाद होता रहता है।

साहित्य और कला में अंततः शैली भी पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में कैसे नियंत्रित हो जाती है, इसका चित्र मार्क्स ने 'यूबंट डाई न्यूएस्टे प्रशिश्चे ज़ेनसुरिनस्ट्रू क्शान' में व्यंगमयी शैली में खींचा है—"मेरी संपत्ति है मेरा रूप, वह मेरा आध्यात्मिक व्यक्तित्व है। शैली ही व्यक्ति है। सो कैसे! कानून मुझे लिखने देगा, इसी शर्त पर कि मैं ऐसी शैली में लिखूं जो मेरी अपनी नहीं है; मुझे अपने भावों का चेहरा दिखाने की छूट तो है परन्तु पहले उस चेहरे को मैं सरकारी सांचे के अनुसार बना लूं। कौन प्रतिष्ठित व्यक्ति इस कल्पना से नहीं लजायेगा और अपना चेहरा चोगे के नीचे छिपा नहीं लेगा? मैं हास्यरस का लेखक हूं, तो कानून मुझे गंभीर लिखने के लिए बाध्य करता है। मैं बहुत वीरतापूर्ण लिखने वाला हूं, पर कानून की आज्ञा है कि मैं नम्रता से लिखूं। आत्मा का स्वभाव है सत्य; और आप उससे चाहते हैं नम्रता? गोइटे का कहना है कि जो बनता है वही नम्र होता है; और आप आत्मा या भावना को यों ढोंगी बनाना चाहते हैं? और यदि नम्रता से तात्पर्य शिला कहते थे उस ऊंची सच्ची नम्रता से हो तो फिर आप अपने सब नागरिकों को और सेन्सरों को महान् प्रतिभावान देव-दूतों में पहले परिवर्तित कीजिए।"

अन्त में मार्क्सवादी विचारधारा और सौंदर्यशास्त्र के इस विवेचन के भविष्य पर मैं श्री शिवदानसिंह चौहान के नव प्रकाशित 'साहित्य की परख' के प्रथम निबंध के बहुत सुन्दर विवेचन की ओर

इंगित कर, उसमें के अन्तिम परिच्छेद के दो वाक्य देना चाहता हूँ—"किसी एक विचारक के विचारों को हिंदी पाठकों के सामने पटक कर के यह दुराग्रह करना कि साहित्य यह है या वह है, उसका लक्ष्य, प्रयोजन, संविधायक कर्म या सौंदर्यमूल्य यह है या वह है, वैज्ञानिक आलोचना का दृष्टिकोण नहीं हो सकता और न सार-संचयन की भावना से किया गया विभिन्न दृष्टिकोणों का बलात् संयोग ही समन्वय कहा जा सकता है। समन्वय अवश्य होना चाहिए, और मेरा विचार है कि प्रगतिवाद ने समन्वय के लिए व्यापक क्षेत्र तैयार किया है और उसमें समन्वित दृष्टिकोण के रूप में विकास करने की संभावनाएं भी मौजूद हैं।" मैं शिवदानसिंह जी से यहां तक सहमत हूँ; परन्तु इसके बाद भी कुछ सौंदर्य के मनोवैज्ञानिक पक्ष रह जाते हैं जो नवीन मनोविज्ञान ने अवचेतन-मन के अवगाहन के बाद प्राप्त किये हैं। मार्क्स के समय उनका विचार असंभव था। तब तक मनोविज्ञान काफी व्यक्तिवादी और विश्लेषणात्मक के रूप में, अविहारित दशा में था। आज उसने और अधिक प्रगति कर ली है। अतः मार्क्स के सामाजिक विश्लेषण को मान्य करते हुए भी, हमें उसके साहित्य-कला के मूलारंभ के विषय में, कलाकार के मन की स्वप्न-प्रक्रियाओं के विषय में दिये गए निर्णयों को अन्तिम नहीं मानना चाहिए। उन्हें नये ज्ञान-विज्ञान के पार्श्व में परखना होगा। परन्तु मार्क्स की दी हुई तर्क-पद्धति यहां पर भी बहुत उपयोगी सिद्ध होगी।

छै : : जीवन-दर्शन

(श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी)

कविता और कहानी—मानव-जीवन के रसात्मक इतिहास हैं। इन दोनों के द्वारा मनुष्य के मानसिक विकास का परिचय मिलता है, और उस विकास के अनुरूप उसके जीवन का दर्शन भी। मन और जीवन का अभिव्यंजन ही तो इतिहास बन जाता है। आज के स्थूल-रूप में प्रचलित इतिहासों की अपेक्षा कविता और कहानी द्वारा प्राप्त जीवन-दर्शन अधिक अन्तरंग एवं विश्वसनीय जान पड़ता है। इनके द्वारा मानव-समुदाय की उस हार्दिक रुचि और जीवन-प्रणाली का प्रत्यक्षीकरण होता है जिससे संस्कृति और सामाजिक स्थिति बनती है। साहित्य की अपेक्षा स्थूल इतिहास में हम जिस इतिहास को देखते हैं वह इतिहास नहीं, बल्कि घटनाओं और कार्यों की विवृति-मात्र है; संस्थाओं के वार्षिक विवरण की तरह उसमें निर्जीव इतिवृत्त है, सजीव चित्त-वृत्ति नहीं।

मनुष्य जब आज की तरह वैयक्तिक प्राणी नहीं बन गया था, बल्कि प्रत्येक व्यक्ति अपने में पूर्ण समाज था; तब उसने अपने समग्र जीवन को कविता और कहानी में ही अंकित किया था। आज की तरह उसने अलग-अलग अपने जीवन की डायरी नहीं लिखी। बिन्दु-बिन्दु में सिन्धु की तरह व्याप्त सभी व्यक्तियों की जीवन-प्रणाली और

संवेदनशीलता एक थी, अतएव, एक की कविता और कहानी में समग्र समाज की अनुभूति स्पन्दित रहती थी। सभी देशों की धार्मिक कथाओं में ऐसा ही सामूहिक जीवन-दर्शन मिलता है। इन कथाओं में व्यक्तिवाद नहीं, बल्कि समष्टिवाद है। सचराचर की एकप्राणता ही समाज की समष्टि में संघटित है। इस वैज्ञानिक युग में जब कि मनुष्य अनीश्वरवादी होता जा रहा है, धार्मिक युग के अद्वैत का स्थान समाजवाद ले रहा है। नाम बदल जाने पर भी सामूहिकता की मूल प्रवृत्ति वही है जो धार्मिक युग में थी। अन्तर यह है कि पहले जो सार्वजनिक चेतना धर्म की धुरी पर केन्द्रित थी, वह अब अर्थ-चक्र पर घूम रही है। धर्म से अर्थ पर जाकर जीवन राजनीति-प्रधान हो गया है। राजनीति-प्रधान जीवन में हम समाजवादी हो ही नहीं सकते, क्योंकि वहाँ पग-पग पर अविश्वास और अधिकार का ही तुमुल संघर्ष है। राजनीति का प्रचण्ड शस्त्र अर्थशास्त्र मनुष्य को उद्योगी तो बनाता है, किन्तु संवेदनशील नहीं बना पाता। सच्चा इन्कलाब तो तभी होगा जब मनुष्य की एकाग्रता फिर किसी आन्तरिक ध्येय पर केन्द्रित होगी। धर्म ही आन्तरिक ध्येय है। आज की विषमता का कारण अधर्म किंवा लोभ और स्वार्थ है। इन तामसिक प्रवृत्तियों में मनुष्य की बहिर्मुखी बर्बरता है। धर्म द्वारा ही मनुष्य अन्तर्मुख-प्राणी बन सकता है। अन्तर्मुख प्राणी ही वह संवेदनशीलता पा सकेगा जिससे कविता और कहानी की सृष्टि होती है।

कविता और कहानी की उपज पृथ्वी की उसी स्वाभाविक मिट्टी के भीतर से हुई है जहाँ से वनस्पतियों की तरह ही मानव-सन्ततियाँ उगी हैं। धूल में ही हँस-खेलकर पनपने वाले बच्चों-जैसी सरल, निश्छल, भोली-भाली जनता ने ही प्रकृति के स्वर और सौन्दर्य में अपने जीवन का समावेश कर कविता और कहानी की रचना की। आज उस सूधे मन और सूधे जीवन द्वारा रची कविताओं और

कहानियों को हम लोक गीत और दन्त-कथा कहते हैं। उन रचनाओं में मिट्टी का स्वाभाविक सोंधापन नगरों में आकर जैसे वन्यसरिता और ग्राम्यधान्य का रूपान्तर हो गया वैसे ही पठित समाज के हाथ में जाकर उन ठेठ रचनाओं का भी कलेवर बदल गया।

युगों के परिवर्तन के साथ-साथ आज हमारी अभिव्यक्तियों में भी बहुत परिवर्तन हो गया है। आज हम देखते हैं, धरती की स्वाभाविक मिट्टी कोलतार की सड़कों के नीचे छिप गई है। ऊपर सड़कों पर कूड़ा-कचरा, थूक-खखार, मल-मूत्र फैला हुआ है; नीचे सड़क के अन्त-राल में पाखाने की मोरियाँ बह रही हैं। कहीं एक कण भी शुद्ध रज-कण नहीं मिलता। बड़े-बड़े शहरों में घर लीपने-पोतने के लिए शुद्ध मिट्टी भी खरीदनी पड़ती है। ऐसा हो गया है प्रकृति से विच्छिन्न मनुष्य का विकृत जीवन, और ऐसे जीवन का साहित्य भी उसी के समान कृत्रिम हो गया है।

मनुष्य ने जब प्रकृति की अजस्रता को अपने जीवन में अमृत बना लेना चाहा तब जड़ शरीर से अपनी चेतना को संयुक्त कर उसने संस्कृति का प्रादुर्भाव किया। संस्कृति मनुष्य के दैनंदिन जीवन को संयत और सुसंगत बनाती है। वह प्रकृति के साहचर्य्य में प्राण और काया को अन्विति देती है।

संस्कृति का स्थान केवल पूजा-पाठ या मन्दिरों में नहीं है, वह हमारे प्रत्येक श्वास, प्रत्येक क्षण, प्रत्येक पग के साथ है। सनातन परम्परा में हमारी सम्पूर्ण दिनचर्य्या ही संस्कृति से सुशृंखलित है। प्रातः जागरण से लेकर रात्रि-शयन-पर्य्यन्त हमारी दिनचर्य्या धार्मिक विधानों से बँधी हुई है। धर्म्म अर्थात् शरीर और आत्मा को शुद्ध स्वस्थ बनाये रखने के लिए जो कर्त्तव्य अनिवार्य है, वही है धर्म्म।

धर्म्म का पालन प्रकृति से अभिन्न होकर ही किया जा सकता है। प्रकृति हमें उद्योगी भी बनाती है और संवेदनशील भी। पथारोही के साथ-साथ नदी की धारा की तरह प्रकृति हमारे जीवन के साथ है। जो

लोग केवल काम-काजी अथवा सैलानी हैं उनकी दिनचर्य्या में प्रकृति के साहचर्य्य और सहयोग को कोई स्थान नहीं है। ऐसे लोग स्टीमर पर सवार होकर नदी के उस पार उतरकर जब घर पहुँचेंगे तब बिजली के पंखे के नीचे सुस्तायंगे या हाथ-मुँह धोने के लिए गुसलखाने में घुस जायंगे। मनुष्य के आराम-तलब आलसी स्वभाव में जो म्लेच्छता आ गई है उसके कारण वह जीवन की सस्ती सुविधाओं का गुलाम हो गया है। सुविधाओं के लिए आविष्कृत कृत्रिम साधनों के भार से दब कर मनुष्य का दम घुटता जा रहा है।

मनुष्य की दिनचर्य्या में अपना अमृत सहयोग देने के लिए प्रकृति उससे साधना चाहती है। यह साधना तन-मन दोनों की है। स्नान और सन्ध्या की तरह ही तन-मन की साधना जुड़ी हुई है। हमारे प्रत्येक नित्यकृत्य में अन्तर्बाह्य शौच की साधना है। यह साधना ही हमें असाधु होने से बचाती है।

इस आर्थिक युग में जब कि प्रत्येक मनुष्य की दौड़ पैसे की ओर है, जब कि अन्तर्बाह्य मलिनता से सभी की बुद्धि म्लेच्छ हो गई है, ऐसे युग में प्रकृति, संस्कृति एवं साधना का स्वर बहुत पीछे छूटता जा रहा है। मिलों, फैक्टरियों, चिमनियों के इस धुआँधार युग में जैसे प्रकृति को स्थान नहीं है वैसे ही संस्कृति को भी।

कहते हैं, यह वैज्ञानिक युग है। इस युग का साहित्य में भी आधिपत्य है, इसलिए कथा-साहित्य में इन दिनों मनोविज्ञान की बातें बहुत सुनने में आ रही हैं। अंग्रेजी पढ़ना जैसे किसी समय एक फैशन था वैसे ही आज मनोविज्ञान की बातें करना भी शौक बन गया है। जिनके पास उधार लिया हुआ ज्ञान अधिक है वे ही मनोविज्ञान की बातें बहुत करते हैं।

इन दिनों कथा-साहित्य में मनोवैज्ञानिक विचार का आधार अन्तर्मन-बहिर्मन का द्वन्द्व है। वस्तुतः क्या मन दो हैं? नहीं, मन तो

एक ही है। शरीर की विभिन्न स्थितियों के अनुसार मन की गतियाँ अनेक हैं, मन अनेक नहीं।

जिसे हम अवचेतन मन या अन्तर्मन कहते हैं वही दिवस के कार्य्यव्यग्र क्षणों में कर्त्ता रहता है, फिर स्वप्न में या जाग्रत दिवस के अवकाश में अपने कार्य्यों का द्रष्टा अथवा तटस्थ निरीक्षक भी बन जाता है। इस मन के सामने ही व्यक्तजगत् सुषुप्ति में स्वप्नजगत् बन जाता है, फिर स्वप्नजगत् जागृति में व्यक्तजगत्। स्वप्नजगत् में मन कार्य्य-भार से मुक्त रहता है, अतएव उसमें संकलन और आकलन की क्रिया ही तीव्र हो जाती है। इस स्थिति में उसके सामने व्यक्तजगत् की ही रुचि-विरुचि, तृप्ति-अतृप्ति घनीभूत हो उठती है।

स्वप्नजगत् की अभिव्यक्तियाँ कर्म्मलोक (व्यक्तजगत्) की ही छायावृत्तियाँ हैं, कवि की इन पंक्तियों में इसी अनुभूति का परिचय मिलता है--

'किन कर्म्मों की जीवित छाया उस निद्रित-विस्मृति के संग
आँखमिचौनी खेल रही वह किन भावों की गूढ़ उमंग ?'

इस प्रकार हम देखते हैं कि मन कभी निष्क्रिय नहीं रहता, कर्म्म-जगत् में यदि वह कार्य्यों में सक्रिय रहता है तो स्वप्न-जगत् में भावनाओं या आकांक्षाओं में। कभी-कभी मन की क्रिया इतनी बलवती हो उठती है कि मनुष्य स्वप्न में भी उठकर चलने-फिरने लगता है। हम इसे इस रूप से लें कि तेजी से आती हुई मोटर या साइकिल को ब्रेक लगाकर रोक देने पर भी भीतर के अवशिष्ट वेग से वह कुछ दूर गतिमय हो जाती है। इसी तरह मन का जो अति वेग निद्रा में भी शान्त नहीं हो पाता वह निद्राभिभूत शरीर को भी चालित कर देता है।

हाँ तो, मन दो नहीं, एक है। निशादिवा में विभाजित समय जैसे एक ही अखण्ड काल के अन्तर्गत है, वैसे ही कालानुक्रम के कर्म्म भी एक ही मन के कृत्य हैं। मन तो इकहरा ही है, केवल उसके कर्त्तव्य

दुहरे-तिहरे हैं। व्यक्ति जैसे भिन्न-भिन्न पदों पर बैठकर भी मूलतः एक रहता है वैसे ही मन भी अनेक कर्त्तव्यों में एक ही कर्त्ता, भोक्ता, द्रष्टा बना रहता है।

यद्यपि मन बलवान है, उसकी शक्ति असीम है, तथापि वह क्षण-भंगुर शरीर के अधीन है; जैसे वेग अपने वाहन में। वेग की गति वाहन के अनुरूप होती है। मोटर में चाहे जितना पेट्रोल हो, लेकिन पेट्रोल की शक्ति मोटर के ही अधीन है। यदि मोटर ठीक नहीं हो तो वह केवल पेट्रोल की शक्ति से नहीं चल सकती। यही कारण है कि कभी-कभी मोटर को ठेलना भी पड़ता है।

कहने का अभिप्राय यह कि मन की शक्ति यद्यपि अपरिमित है तथापि उसकी गति-विधि शरीर से ही परिमित है। शरीर की शिराएं मन के लिए स्वर की रेखाओं की तरह हैं। यदि रेकर्ड की रेखाएं क्षीण हो गई हों या उनमें कोई अन्य खराबी आ गई हो तो स्वर का समुचित संचालन नहीं हो सकता। अतएव, मन को, आत्मा को, चेतना को प्रधानता देकर भी हमारे यहाँ शरीर की अपेक्षा नहीं की गई है। यद्यपि मनुष्य की आत्मा वेणु-स्वर की तरह शरीर तक ही सीमित नहीं है, किन्तु जब तक शरीर आत्मा का वाहन है तब तक स्वर वेणु से ही बँधा हुआ सगुण है।

स्वर के लिए जैसे हम वेणु की उपेक्षा नहीं कर सकते वैसे ही मन, बुद्धि, चित्त, चेतना या आत्मा के लिए शरीर की भी उपेक्षा नहीं कर सकते इसीलिए हमारे यहाँ कहा गया है—"शरीरमाद्यम् खलु धर्म्म साधनम्।" इसका मतलब यह कि यदि शरीर संयत और स्वस्थ है तो मन भी वैसा ही हो जायगा। शरीर की आद्यता स्वीकार कर शारीरिक भोगों को प्रधानता नहीं दी गई, बल्कि संकेत यह है कि शरीर को जैसा संयत-असंयत, स्वास्थ्य-अस्वास्थ्य रखेंगे वैसी ही बुद्धि और क्रिया बनेगी। अपने स्वस्थ-अस्वस्थ से ही मनुष्य साधु असाधु बनता है। शरीर को साधने के लिए ही दिनचर्या, परिचर्या

और उपचर्य्या है। इनके व्यतिक्रम से मन का भी व्यतिक्रम हो जाता है। आधुनिक रहन-सहन में यह व्यतिक्रम पग-पग पर दिखाई पड़ता है—रात-रात भर सिनेमा देखना, अनाप-शनाप खाना, उषः पान के बजाय चाय के प्याले उड़ाना, स्नान-ध्यान के बजाय तौलिये से केवल हाथ-मुँह पोंछ लेना ! ऐसी मलेच्छता से शरीर अशुद्ध (अस्वस्थ) और मन मलिन हो जाता है।

हमारे यहाँ सधी हुई दिनचर्य्या में ही जीवन की साधना दिखलाई गई है। गोस्वामी जी की इन पंक्तियों में इसी साधना का संकेत है—

उठे लषन निसि बिगत सुनि अरुन सिखा धुनि कान।
गुरु तें पहिलेहि जगतपति जागे राम सुजान॥

इन्द्रियों और उनकी क्रियाओं को नैसर्गिक सुषमा देने के लिए ही दिनचर्य्या है। सुन्दर व्यक्तित्व में प्रकृति का ही सौन्दर्य-सन्दोह रहता है। मनोहर अंग-प्रत्यंग और हँसने-बोलने-चलने की उपमा प्राकृतिक उपादानों से दी जाती है।

अपनी दिनचर्य्या में जो प्रकृति का अधीश्वर है वही ईश्वर है। राम की तरह योगेश्वर कृष्ण भी अपनी दिनचर्य्या में प्रकृति के ही अधीश्वर हैं। उनका गोचरण, वन-विहार, यमुना-तट-लीला-विस्तार, ये सब उनकी प्राकृतिक दिनचर्य्या के क्रिया-कलाप हैं।

गीता में भगवान् ने जीवन का सम्पूर्ण यन्त्र एक ही शब्द में दे दिया है—'युक्ताहार-विहार।' निसर्ग के साथ सधी हुई दिनचर्य्या में इसी युक्ताहार-विहार का विधान है। आहार-विहार के व्यतिक्रम (अस्वास्थ्य) से ही आज के सारे आचार-विचार में भी व्यतिक्रम आ गया है। इस व्यतिक्रम को जीवन की समुचित गति-यति देने के लिए ही गांधी जी प्रतिदिन की छोटी-मोटी बातों में दिलचस्पी लेते थे। आने वाला संसार अपने बड़े-बड़े मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक प्रयोग में विफल होकर जिन्दगी की छोटी-मोटी बातों में

ही जीवन का निस्तार खोजेगा। वर्तमान कथा-साहित्य में यह तो दिखाई देता है कि एक आदमी अच्छा है दूसरा बुरा, लेकिन अच्छे-बुरे का निर्णय जिस सामूहिक (मनोवैज्ञानिक और सामाजिक) मानदण्ड से किया जाता है वह पर्य्याप्त नहीं है। चरित्र की अच्छाई-बुराई का एक विशेष कारण मनुष्य का निजी स्वास्थ्य-अस्वाथ्य भी है। अनुकूल सुविधाओं के अभाव में जहाँ स्वास्थ्य संभव नहीं है, वहाँ अस्वस्थता का कारण सार्वजनिक है। लेकिन जिन्हें पर्याप्त सुविधा प्राप्त है उनकी अस्वस्थता का कारण वैयक्तिक ही हो सकता है।

सबसे बड़े मनोवैज्ञानिक तो वे साधारण जन हैं जिन्होंने कहावतों एवं लोकोक्तियों में जीवन का सार निचोड़कर रख दिया है। उन्हीं की यह लोकोक्ति है—'जिसका आंत भारी, उसका माथ भारी।' भारी माथ (कुण्ठित मस्तिष्क) मनुष्य से उस प्राकृतिक दिनचर्य्या की माँग करता है जिसमें उसका शरीर स्वस्थ होकर मन को भी स्वस्थ बना दे। जहां मलावरोध होता है वहाँ बुद्धि का भी अवरोध हो जाता है। आयुर्वेद कहता है--

सर्वेषामेव रोगाणां निदानं कुपिता मलाः।
तत्प्रकोपस्य तु प्रोक्तं विविधाहित सेवनम्॥

मलमुक्त शरीर ही निर्म्मल मन रह सकता है। शरीर और मन, देह और देही की समस्या स्वास्थ्य की ही समस्या है। शरीर के मोक्षण (मल विसर्जन) से देही का भी मोक्षण हो जाता है।

जन साधारण के पास जीवन का जो निदान है वह वैज्ञानिकों के पास नहीं। आधुनिक विज्ञान विकृतियों को निर्मूल नहीं करता, बल्कि विकट उपचारों से विकृतियों को दबा देता है। आवश्यकता है स्वस्थ दिनचर्य्या को प्रोत्साहन देने की, ताकि कृत्रिम रोग उत्पन्न ही न हों।

वर्तमान कथा-कहानियों में घटनाओं, क्रियाओं और कथोपकथन

के भीतर से चरित्र-चित्रण किया जाता है, इनके साथ दिनचर्य्या का भी समावेश होना चाहिए। केवल दिनचर्य्या से भी किसी व्यक्ति के चरित्र का परिचय मिल सकता है। दिनचर्य्या के अनुरूप ही मनोवृत्ति बनती है।

धार्मिक कथाओं में भी दिनचर्य्या का उल्लेख मिलता है। 'मानस' में देखिये—

तेहि दिन भयेउ बिटपतर बासू। लषन सखा सब कीन्ह सुपासू॥
प्रात प्रातकृत करि रघुराई। तीरथराजु दीख प्रभु जाई॥
राम कीन्ह विश्राम निसि, प्रात प्रयाग नहाय।
चले सहित सिय लषन जन, मुदित मुनिहिं सिरु नाय॥

यदि हम मनुष्य के साथ उसकी दिनचर्य्या में देर तक न रह सकें और पल-भर की झलक से ही व्यक्ति का आन्तरिक अध्ययन कर लेना चाहें तो उसकी मुखाकृति देखनी चाहिए। यदि हमारा मन स्वस्थ है, निर्मल है तो जल में प्रतिबिम्ब की तरह मुखाकृतियों से ही मनुष्य का का मर्मोद्घाटन हो जायगा।

मनुष्य के चरित्र का 'मीटर' उसकी मुखाकृति पर लगा रहता है। जैसा जीवन होता है वैसा ही मुख बन जाता है। शैशव के निरीह सारल्य में सभी का मुख सुशोभन जान पड़ता है, किन्तु आगे जीवन-प्रणाली के अनुसार उसी मुख का रूपान्तर हो जाता है। शैशव में सभी की मुखाकृति इसलिए सुहावन लगती है कि उसमें प्रकृति (माता) के स्वारस्य की स्निग्धता रहती है। सुन्दर मुख प्रकृति का ही पुरस्कार है। ज्यों-ज्यों मनुष्य अपने दैनंदिन जीवन में प्रकृति का उल्लंघन करता जाता है त्यों-त्यों वह कुरूप होता जाता है। जिन्होंने अपने जीवन में प्रकृति को साथ लिया है उन्हीं के मुख पर शैशव चिरशोभायमान रहता है। देवचित्रों में श्मश्रु-विहीन सुस्निग्ध मुखमंडल उसी शैशव का द्योतक है।

धार्मिक कथाओं में मुखाकृतियों से चरित्र का बहुत-कुछ संकेत

कर दिया गया है। राम और रावण का चरित्र उनके मुख पर अंकित है। उनके चित्रों में मनोविज्ञान आकृति विज्ञान बन गया है। आधुनिक वैज्ञानिक भी आकृतियों का अध्ययन कर रहे हैं। अमेरिका में एक ऐसा अस्पताल बनाया गया है जहाँ बच्चों के स्वभाव की परीक्षा की जाती है। प्रति सप्ताह चित्र खींचकर उनकी मुखाकृति का अध्ययन किया जाता है।

वर्तमान कथा-साहित्य में रवीन्द्रनाथ की रुचि आकृति विज्ञान की ओर थी। इनकी रचनाओं में आकृतियों का चित्रण प्रायः मिलता है। उनकी दृष्टि मर्म्म-भेदिनी थी। बाहरी आकृति में कृत्रिम भद्रता हो सकती है, इसलिए उनकी दृष्टि भीतरी आकृति में भी प्रवेश करती थी। तभी तो 'चार अध्याय' की एला कहती है—'उसका एक भीतर का चेहरा मुझे दिखाई देता है, बिलकुल अष्ट-पद जन्तु की तरह।'

रवीन्द्रनाथ के कथा-साहित्य में बाहरी आकृतियों का और उनकी चित्र-कला में मुख्यतः भीतरी आकृतियों का चित्रण है। रवीन्द्रनाथ की सजग दृष्टि से देखने पर बाहरी आकृतियों में भी भीतरी आकृति का आभास मिल जाता है। भीतरी आकृतियों में मनुष्य पशु हो गया है और पशु मनुष्य। इसलिए उनकी चित्रकला अपूर्व और अद्भुत है।

एक ऐसे युग में जब कि सामूहिक समस्याओं ने मनुष्य को वैयक्तिक साधना (स्वास्थ्य-साधना) से वंचित कर दिया है वहाँ बाहरी मुखाकृतियों में विविधता होते हुए भी सभी का अन्तर्मुख एक-सा ही कुरूप और घृणित हो गया है। ऐसी स्थिति में किसे कुरूप कहें, और किसे सुरूप ? सबका बाहरी मुख केवल एक 'चेहरा' मात्र रह गया है, जिसके भीतर बैठा हुआ 'अष्टपद जन्तु' आखेट की टोह लेता रहता है।

हम देखें वे समस्याएं क्या हैं। जिन्होंने मानव-समाज को इतना विकृत कर दिया है।

जैसा कि ऊपर कहा है, बिमल बुद्धि के लिए युक्ताहार-विहार आवश्यक हैं। वर्त्तमान समस्याएं आहार-विहार के व्यतिक्रम से उत्पन्न हुई हैं। कन्ट्रोल और राशनिंग के पहले कहीं आहार-विहार था तो कहीं अनाहार अर्थात् रसाभाव, 'अतिशय दुख है उत्पीड़न अतिशय सुख भी उत्पीड़न।' दोनों की परिणति एक-सी हुई। जीवन के सम्यक् भोग से वंचित हो जाने के कारण आहार-विहार की विकृतियाँ रोटी और सेक्स की समस्या के रूप में प्रकट हुई। सम्पन्नता और विपन्नता दोनों की सामाजिक अधोगति एक-सी हो गई। कवि ने कहा है—

'मानव-जग में बँट जावें सुख दुख से औ' दुख सुख से।'

किन्तु आज वर्त्तमान विश्वव्यापी अकाल में सुख का नाम नहीं, केवल दुख-ही-दुख है।

वर्त्तमान कथा-साहित्य में रोटी और सेक्स की समस्या उभर पड़ी है। फ्रायड ने सभी मनोविकृतियों का कारण यौनचेतना की कुण्ठा में दिखलाया है। किन्तु सेक्स की समस्या अकेली नहीं, वह रोटी के साथ जुड़ी हुई है। रोटी और सेक्स अन्योन्य हैं। रक्त-निर्माण और उसका स्वस्थ संचालन, यही तो रोटी और सेक्स का अभिप्राय है। यदि यह अभिप्राय सफल नहीं होता तो रोटी और सेक्स की तृप्ति से ही मन स्वस्थ नहीं हो सकता।

रोटी और सेक्स (आहार-विहार) के रूप में जो समस्या सामने है उसकी ओट में समाज की आधारभूत समस्या गार्हस्थिक है। गृहस्थी ही रोटी और सेक्स का स्वस्थ उपभोग हो सकता है। होटलों में खा लेने और वेश्याओं के यहाँ विहार कर लेने से रोटी और सेक्स की सन्तुष्टि नहीं हो सकती। मूल रूप में यह समस्या व्यापारिक नहीं सांस्कृतिक है।

जीवन में जब व्यापारिक प्रवृत्ति की प्रधानता नहीं थी तब समाज की सांस्कृतिक सुषमा गार्हस्थ्य के वातावरण में ही विकसित हुई थी। वर्त्तमान व्यापारिक विषमताओं से गार्हस्थ्य का ही उद्धार करना

है। उसी में समाज का सुख-स्वास्थ्य है। समस्या को व्यापारिक अथच सैनिक दृष्टि से देखने पर वह अपना समाधान नहीं पायगी। उसे गृहस्थों की दृष्टि से देखने पर जीवन-यापन का वह माध्यम मिलेगा जो ग्राम्यजीवन में कभी श्रम-सहयोग और सामाजिक सहृदयता के रूप में था।

इन्द्रियों से बँधा हुआ मनुष्य भी अन्ततः पशु ही है, किन्तु गृह-जीवन का सूत्रपात कर वही पशु सामाजिक प्राणी बन गया था। क्रमशः सभ्यता और संस्कृति में उन्नति कर आज वही सामाजिक प्राणी फिर पशु क्यों बन गया? इसका कारण समाज की अर्थतान्त्रिक व्यवस्था है।

समाज का अस्तित्व कृषि-जीवन पर निर्भर है। कहा है—

'उत्तम खेती मध्यम बान, निकृष्ट चाकरी भीख निदान।'

अर्थ-तन्त्र में वाणिज्य, नौकरी और भिक्षावृत्ति इन्हीं का आधिक्य हो जाने से समाज असन्तुलित हो गया है। सामाजिक सन्तुलन के लिए हमें फिर कृषि को महत्व देना है, तभी रोटी और सेक्स की समस्या का ही नहीं, बल्कि आज की सभी कृत्रिम समस्याओं का अन्त हो सकेगा। कृषि प्रकृति का प्रसाद है। कृषिजीवी मनुष्य प्रकृति के सम्पर्क में उद्यमी और उत्पादक था। प्रकृति से मुँह मोड़कर व्यापारिक मनुष्य निरुद्यमी और शोषक हो गया। उद्यम का स्थान लूट-पाट और छल-प्रपंच के व्यापार ने ले लिया। आज राजनीति, दावपेंच, छलछद्म और वितंडावाद का बोलबाला है।

शोषकवर्ग (व्यापारिक वर्ग) अत्यधिक भार पड़ जाने के कारण कृषकवर्ग पृथ्वी के भारवाहक शेषनाग की तरह विचलित हो गया है। जब तक वह सुस्थिर नहीं होगा तब तक समाज डगमगाता रहेगा। यदि इस डाँवाडोल स्थिति को कृषि की बुनियाद पर शीघ्र नहीं सँभाला गया तो समाज ढहकर निःशेष हो जायगा। व्यापारिक, राज-

नीतिक और वैज्ञानिक प्रयत्नों से किसी अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती।

नवजीवन के लिए कृषि को पुनः स्वाभाविक ग्रामीण पद्धति से ही करना चाहिए। वैज्ञानिक पद्धति से तो कृषि का विकास उसके ह्रास का ही कारण बनेगा। जैसा कि कहा है—'सहजन अति फूले तरु डाल-पात की हानि' यही हालत कृषि की भी हो जायगी।

वैज्ञानिक पद्धति से श्रम और समय की बचत तो होती है किन्तु उसका फल स्थायी नहीं होता। आज की सभी समस्याएं तपस्या चाहती है और श्रमपूर्वक मनुष्य को श्रमण बनने का संकेत करती हैं।

सामयिक कथा-साहित्य में राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों का अनु-सरण-मात्र है, उसमें उस स्वतन्त्र सामाजिक दृष्टिकोण का अभाव है जिसका परिचय रवीन्द्र और शरत् के साहित्य में मिलता है। आधुनिक कथाकारों में मौलिकता नहीं, अनुगामिता है। उनमें वह जाग्रत् व्यक्तित्व नहीं है जो राजनीतिज्ञों और वैज्ञानिकों से ऊपर उठकर द्रष्टा बन जाता है।

आधुनिक कथा-साहित्य बहुत सीमित है। रूस में यदि डिक्टेटर-शिप के कारण कथा-साहित्य संकुचित हो गया है तो अन्य देश में बौद्धिक गुलामी के कारण। कलाकारों में साधना का संबल नहीं है।

आधुनिक कथा-साहित्य का चित्रपट संकीर्ण है—रोमांस, राज-नीतिक आन्दोलन, चर्वित मनोविज्ञान, इतने ही में उसकी इति श्री है। जिसके जीवन से चित्रपट चित्रित होता है उससे सामाजिक मनुष्य का परिचय नहीं मिलता। सच तो यह है कि वह केवल शरत् की रचनाओं और प्रेमचन्द के 'गोदान' में ही है।

कलाकार का कर्त्तव्य दुहरा है—बाहर उसे समय की तरंगों पर तैरना है, भीतर उसे अतल में पैठना है, कवि का यही निर्देश है—

'जीवन की लहर-लहर से हँस खेल खेल रे नाविक,
जीवन के अन्तस्तल में नित बूड़-बूड़ रे भाविक !'

साहित्य को स्थायित्व अन्तस्तल के अवगाहन से ही मिल सकता है।

इस अनिश्चित काल-प्रवाह में, जब कि सब कुछ अस्थिर और अविश्वसनीय हो गया है, आज का कलाकार भी प्रकृतिस्थ होकर किसी सुचिन्तित धरातल पर नहीं खड़ा हो सका है। किसी आन्तरिक निर्म्माण के अभाव में उसकी कलाकारिता बहिर्मुखी हो गई है। कवि पन्तजी के शब्दों में—"क्या चित्रकला में, क्या साहित्य में, इस युग के कलाकार केवल नवीन टेकनीकों का प्रयोग-मात्र कर रहे हैं, जिनका उपयोग भविष्य में अधिक संगतिपूर्ण ढंग से किया जा सकेगा।"

हमारे साहित्य में जो नये टेकनीक आ रहे हैं वे भी अनुकरण-मात्र हैं। केवल शरत् की रचनाओं में ही अन्तःकरण मिलता है, जैसा अकृत्रिम उनका समाज है वैसा ही अकृत्रिम उनका अभिव्यंजन भी। शरत् के कथा-साहित्य को ठीक अर्थ में जनता का साहित्य कह सकते हैं।

टेकनीक की दृष्टि से यह चिन्तनीय है कि आधुनिक कथा-साहित्य प्रचार-प्रधान है। जिन लेखकों में व्यक्तित्व का अभाव है वे कला के क्षेत्र में लाउडस्पीकिंग करते हैं।

यह युग प्रगतिशील कहा जाता है। प्रगतिशील का अभिप्राय मार्क्सवादी विचार-धारा के अनुसार जन-समाज को अग्रसर करना है। किन्तु जनता का अपना भी एक निर्म्माण है, सामाजिक साधना है; इसीलिए शताब्दियों के प्रहार में भी वह टिकी हुई है। गांधीजी ने जनता के उसी आत्मनिर्म्माण अथवा सामाजिक साधना को बनाये रखने के लिए राजनीति द्वारा उसके विलुप्त स्वावलम्बन का पुनरुद्धार करना चाहा था। इस श्रेणी के लोक-पुरुष और लेखक प्रगतिशील नहीं कहे जा सकते क्योंकि वे पुराण-पन्थी हैं। प्रगतिशील तो वे लोग हैं जो जनता का यन्त्रों की तरह निर्म्माण करना चाहते हैं।

आधुनिक कथा-साहित्य के प्रसंग में मार्क्सवादी कलाकार यशपाल

जी ने नये शब्द की उद्भावना की है। जो प्रगतिशील नहीं हैं, वे 'स्थितिशील' हैं। इसका अभिप्राय यह कि जो जहाँ खड़े हैं वहीं स्थिर हैं, आगे बढ़ना नहीं चाहते, वे गति-रहित हैं। किन्तु विचारणीय यह है कि उन्हें अपनी 'स्थिति' का आग्रह क्यों है? इसलिए कि वे जीवन के किसी ध्रुवकेन्द्र पर खड़े हैं, वे सर्वहारा हैं, दिशिहारा नहीं। उनका ध्रुवकेन्द्र है संस्कृति : जनता का आत्म-निर्माण। जनता केवल कठ-पुतली नहीं है, उसके पास भी सृष्टि-रचना के सजीव तत्त्व हैं, उन्हें पाने के लिए हम 'स्थितिशील' जनता के अनुभवों की भूमि पर ही खड़े हैं।

सात : : युग और कला

(श्री माखनलाल चतुर्वेदी)

क्रियाशीलता से कवि ज्यों-ज्यों हटता है, त्यों-त्यों उसे अपना और औरों का पतन निमंत्रित करने वाली जाति का व्यक्ति कहकर ज्ञाताओं के बीच उसका परिचय कराया जाता है। कलाकार इस अपवाद को चुनौती मानता है और विश्व के बड़े-से-बड़े परिवर्तनों का उत्तरदायित्व लेकर यह साबित करने के लिए बाध्य है कि वह उत्थान का संदेशवाहक है, पतन का पृष्ठपोषक नहीं।

पिछले दिनों भारत ने एक बहुत बड़ा द्रष्टा, एक बहुत बड़ा ऋषि, एक बहुत बड़ा योद्धा, एक बहुत बड़ा कवि खो दिया। जो चिन्तन की घड़ियों को जब क्रिया से तोलता था, तब वाणी से बोलता था। लोक-जीवन की करुणा के कोटि-कोटि स्वर पुरुषार्थ के संकेत बनकर जिसकी वाणी में फूट पड़ते और जिसकी क्रिया में टूट पड़ते थे। विश्व का ऐसा अनहोना काव्य हमने खो दिया। उसकी कलम जब उठती, भाषा का सुहाग और देश का भाग्य लिखती थी। देश की दलित पीढ़ियां उसके अन्तःकरण में पुकार उठती थीं। सेना न होते हुए भी जिसकी बात राजाज्ञा की तरह पालन की जाती; गद्दी न होते हुए भी जिसकी बात धर्माज्ञा की तरह मस्तक झुकाकर स्वीकार की जाती; स्वर माधुर्य न होते हुए भी जिसकी बात पर सहस्र-सहस्र मस्तक डोल उठते; धनिक न होते हुए भी जिसकी बात सुनकर सहस्र-

सहस्र प्राणियों और शत-शत संस्थाओं की रक्षा के लिए धन बरस पड़ता और प्रियतम और प्रियतमा का पागलपन न होते हुए भी जिसका ईमान और बलिदान, जिसकी कीर्ति और मूर्ति पीढ़ियों में दुहराई जाती, उसे हमने खो दिया। जिसके नेत्रों में दुखियों की चीत्कार भर आती, जिसकी साँसों में जरूरतमंदों की झंकार सुनाई पड़ती, जिसकी मुद्रा में विश्व के परिवर्तन की मनुहार होती और जिसके स्वर में साम्राज्यों को कंपित करने की हुंकार होती, इसी महान् मानव-काव्य अथवा काव्य-मानव को हमारे देश की भूमि ने खो दिया।

विश्व में तो नन्हीं उम्र का बच्चा अच्छा मालूम पड़ता है किन्तु हमारे दिवंगत युग-निर्माता की मरण-तिथि एक साल और कुछ महीने की है और जन्मतिथि अस्सी बरस तेरह दिन की, किन्तु कौन उन अस्सी बरसों को प्यार नहीं करता और किन्हें ये वर्ष-महीने प्यारे हैं? सच तो यह है कि हमने अपने देश का वर्चस्व और अपनी वाणी का सर्वस्व खो दिया। साहित्य यदि प्रतिबिम्ब है तो हमने अपनी वाणी में प्रतिबिम्बित होने वाला महान् बिम्ब खो दिया। हमने महात्मा गान्धी को खो दिया और महात्मा गान्धी को खोकर आज हम सबका उत्तरदायित्व भी देश के सामने अधिक बढ़ गया।

इस पुण्य-स्मरण के बाद मुझे एक ही बात कहनी है। जिस तरह जब हम ऋषभ के स्वर में रूढ़ एक गीत की पंक्ति को ऋषभ में न उतार कर गान्धार में, मध्यम में, पंचम में उतार देते है, तब हमारे संगीत के निर्देश का स्वर अनुनय, आनन्द और समर्पण का स्वर बन जाता है उसी तरह जब हम तुकों और बेतुकों में बंधे स्वरों को जीवन का सूझों-भरा रस देकर कोमल, धीमे में, उतार में गद्गद् होकर गुहार उठते हैं, तो काव्य स्वर के मीठेपन की लाचारी का अवलम्ब छोड़कर श्रद्धा के हृदय-प्रदेश में सीधा प्रवेश पा जाता है। उस समय तानसेन की प्रशंसा में सूर द्वारा कही गई किंवदंती की तरह कोई

कह-सा उठता है कि : —

विधना यह जिय जानि के, सेसहि दिये न कान।
धरा मेरु सब डोलिहैं, तानसेन की तान॥

कवि बेचारा अपनी लाचारी क्या कहे। अपने ही रक्त में पहले वह खुद गीला होता है; और फिर अपने उसी वैभव को लोकरुचि के सम्मुख रख देता है; केवल यह लाचारी प्रकट करते हुए कि "विधाता ने मुझे तंत्री तो दी है किन्तु उसमें तार नहीं है।"

काव्य केवल एक ही जीवधारी से सधा-मनुष्य से। सूझ और पुरुषार्थ जब मिथिला की जनकदुलारी और अयोध्या के अवधबिहारी बन कर कवि के अन्तर में उतरे तब भावों की जिस भूमि पर कवि बैठा था, उसमें प्रेरणा का भूकम्प क्यों न आ जाता। उस समय उसकी वंदनशील घड़ियां 'मानस' का निर्माण करें या 'साकेत' का, उसके सूझ के रथ के पथ को रोकने वाला कौन है ?

ऐसे ही स्थल पर आकर काव्य दो धाराओं में बँट गया। एक वह धारा थी जिसमें वाल्मीकि से लेकर तुलसी, मैथिलीशरण और कृष्णायन के रचयिता आ गए। वे अपने वर्णन को अपने आराध्य के विवेचन को, अपने आदर्श के गायन को इतना ऊँचा उठाते कि उस वर्णन में अपनी कला, अपना लालित्य, अपना अस्तित्व सब कुछ भूल जाते। उनके संकल्पों की शाश्वत समाधि में से उनके आराध्य की सुगंधि आती है। दूसरी ओर वे कवि हैं जिन्हें प्रति क्षण स्मरण है कि सूझ ही जिनकी लाचारी, सूझ ही जिनका वैभव, सूझ ही जिनका आस्तिक्य है। कालिदास से लेकर बाण, बिहारी, प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी, दिनकर, नवीन और अपनी सूझों का अनन्त वैभव अपनी काली बूँदों से उजला बनाकर उँडेलने वाले वे समस्त मस्त हैं जो कला के मैदान में कलम पकड़ने की साध लेकर कल तक आये हैं और आज भी आ रहे हैं। गान और संगीत की तरह इन्हीं दो धाराओं पर काव्य का बेदाग़ वैभव ठहरा हुआ है।

कलम, कूँची, छेनी, या रस भरे आत्म-नियंत्रण अथवा कौशल को लेकर कलाकार ने अपने अंगों के टुकड़ों से तोड़-तोड़ कर कला का स्वर, स्वरूप और साध युग में बिखेरना प्रारम्भ किया। जब जब उसकी कलाइयाँ घूम उठीं और उसकी सूझें झूम उठीं, जब-जब उसने अपने को पत्थर पर, दीवार पर, कागज पर, कंठ पर, जमीन पर और अपने ही अंगों पर उतरता हुआ देखा, तब-तब अपने रचना-कौशल की ढेरी की चोटी पर चढ़कर उसने अनुभव किया कि जगत् को छोटा मानने का जुए का दांव मानो वह हार चुका है। वह तो स्वयं अपने ही व्यक्तित्व को मापने, अपने ही तरंगायमान भावों का लेखा-जोखा पेश करने में उद्योगी सिद्ध हुआ है। उसकी रचना समष्टि के आनन्द का साधन बन कर सृजन के पथ में व्यष्टि की सीमाओं का ईमानदार स्वीकृति-पत्र मात्र है।

श्रावण आया, श्रावण की कथा याद आई। बहुएँ और बेटियाँ उठीं, उन्होंने गेरु का रंग बनाया और दीवार पर श्वेत पृष्ठभूमि बनाकर दरवाजों के आसपास काँवर कांधे पर रखे, अपने अंधे माँ-बाप को बैठाये, यात्रा करते हुए, तरुण श्रवण के चित्र बना दिये और घी-शक्कर मुँह पर लगाकर कुलवधुओं ने चित्र के श्रवण की पूजा कर दी। कलाकार के उस विकार को, जिसमें वह नारी को शृंगारिणी कहता है, नारी का यह जवाब कितना स्पष्ट है। क्या नारी से केवल अपरिपक्व तरुण आवेगों को प्रेरणा मिलती है? हम अपनी दुर्गंधित अतृप्ति का विश्व की जननी पर यह आरोप क्यों करते हैं कि वह प्रियतम के रंग में केवल विषय-सुख ढूँढ़ती है। अटपटे कलाहीन चीत्र बनाकर बेटियों, बहनों और बहुओं के जी की साधें श्रवण बनकर दीवार पर उतरती हैं और पूजित होती हैं, उनमें जननी का उत्तर-दायित्व अधिक गुञ्जित होता है। वे विश्व के निर्माण का वरदान माँगती हैं, पतन का अभिशाप नहीं।

चित्रों और मूर्त्तियों की कला विश्व की ऐसी भाषा है, जिसे

अनुवाद का अभिशाप छू कर कलंकित नहीं कर पाता। वह इतनी सरल भाषा भी है कि जिसे समझने के लिए शब्दकोषों की आवश्यकता नहीं हुआ करती। वह ऐसी भोली कला है जो घटनाओं की उलझन का पता दिये बिना हमारे अन्तरंग पर रसपूर्णता और उसकी बेचैनियों को बिलकुल बेढंगा खड़ा कर देती है। मानो वह हमारे अन्तःकरण की खिड़की है, जिसमें आनन्दमय, उल्लासमय, करुणामय अथवा प्रभावित के रूप में हमारा सब-कुछ जगत को दीख रहा हो। कला की उन्हीं-उन्हीं उलझी और सुलझी डोरियाँ अतीत से वर्तमान तक शोधक के शोध की स्मरण-यात्रा के संकेत चिह्न हैं। कला की सीमा मानवीय अनुभव की मधुरतम, कठोरतम और कटु यादों की सीमा है। नामों, शीर्षकों और घटनाओं का मोह लाँघते हुए कला का स्वर सूझों की चरण-ध्वनि है। मानव-विकारों से निर्मित स्वभाव युगों में कला की रचना के रूप में शाश्वत है और उन्हें दिये हुए नाम तथा उन्हें पहनाये हुए कथा के आवरण सर्वथा आकस्मिक दीख पड़ते हैं। वाणी से कोयल कहिये और शत-शत नामों से भिन्न-भिन्न भाषा के लोगों को पृथ्वी-भर में समझाने बैठिये, किन्तु कोयल का चित्र खींचिये या जी में हूक उठने वाली उसकी कूक का परिचय कराइए और जन-जन के मन तक सरलता से पहुँचा दीजिए कि आप क्या कह रहे हैं। जहाँ ज्ञान जानकारी के बोझ से थक उठा हो और सूक्ष्म विचारकता उसकी बीमारी बन गई हो, वहाँ उस थके हुए यात्री की रक्षा के लिए कला की पुकार कीजिए, वहाँ आराधनाशील ज्ञान की रक्षा कर ली जायगी। जो सन्देश केवल वर्णन द्वारा मानव की समझ में वर्षों नहीं आ पाये, सूझ भरे दर्शन ने उन्हें क्षण-भर में समझा दिया। हाँ, कला लहर है किन्तु लहर-मात्र नहीं, कला जीवन के स्वभाव, स्वरूप और कौशल का स्तर है, ठीक है; किन्तु आकलन की अंगुलियाँ अपने अभिमत को नेह भरे या विद्रोह भरे रंग से ज्यों-का-त्यों उतार सकें, इसके लिए हमारी एक लहर की अपेक्षा लहरों की

चिरंतन यात्रा की यानी साधनामय अभ्यास की आवश्यकता है। हमारा अटूट सौंदर्य, अजेय साहस और अपरिमित आग्रह कला का तरलत्व मात्र है। कला का रूपदान और प्राणदान तो हमारा चिरंतन स्नेहमय अभ्यास ही है। अभ्यास के क्षण स्नेह-दान के इस परमयोग में भी जितने ही क्षीण किये जायंगे अज्ञान के स्तर कला में से उतने ही ऊँचे उठकर बोलने लगेंगे। चित्र, काव्य, नृत्य, गीत, मूर्ति कोई भी दूसरा अपवाद नहीं।

विचार आया, राग भागा, अनुराग आन्दोलित हुआ, आदर्श गुदगुदाया और लोक-जीवन पर उतरने के लिए, मानो जीवित रहने के लिए यह सब-के-सब चल पड़े कला का माध्यम ढूँढ़ने, चल पड़े ये किसी की कलम, कंठ या कूँची के मोहताज होने। सूक्ष्म कला का बल है। माध्यम और अभ्यास उसके पंख हैं, जिनके बिना वह उड़ नहीं सकती। आत्मा से कृति तक और अपरिपक्व आवेगों से ईश्वरीय समझे जाने वाले संकेतों तक कला के जो डोरे हिल रहे हैं और उन पर रस-भीगा किन्तु पथ खोजता मानव-विश्वास बैठ-बैठ कर उड़ता और उड़-उड़ कर बैठता-सा जो दिखाई दे रहा है, वहाँ कला का जो संग्रह इतिहास बन रहा है, शोध के सुकोमल क्षणों तक में हजार-हजार बार की दुहराहटों के अभ्यास के बाद ही कला के कौशल को जीवित रहने का वरदान मिलता है।

कला की यह क्षुद्रता नहीं शोभती कि वह केवल अपने में व्यस्त हो, अपनी ही अभ्यस्त हो। आप दत्तक तो न लें, दूसरे के पुत्र को अपना न कहें। दूसरे की वस्तु को कलापूर्वक परोसने के रसोइएपन को भी आप अपनी मौलिकता न कहें, किन्तु कला का ही नहीं किसी भी उत्तरदायित्व के निर्माण में देश का पथिक औरों की रचना के प्रति उपेक्षा और उदासीनता रखकर निर्माता नहीं रह सकता। शताब्दियों से उधार लिये बिना धारणाएं और सूझें अज्ञान रह जायंगी और अज्ञान की उद्दण्डता प्रकाश की पीढ़ियों को किसी भी मूल्य पर

स्वीकृत न हो सकेंगी। जिस तरह गाँव में अपना घर ढूँढ़ने वाला व्यक्ति अनेकों के घरों और दरवाजों के सामने की जमीन लाँघता हुआ अपने घर पहुँच पाता है अथवा जिस तरह अपने खेत तक पहुँचने वाला कृषक अनेकों के खेतों और जंगलों को पार करके ही अपने खेत तक पहुँच पाता है, उसी तरह रचनाशील को अनेक रचनाओं से प्रेरित होकर ही विश्व को अपनी मौलिक उसासें, अपनी मौलिक वन्दनाएं देनी होती हैं। प्रगति की साध का यात्री गति पथ से उदासीन कैसे रह सकता है?

विद्रोह : हाँ, आज का कलाकार विद्रोह की आवश्यकता अनुभव करता है। किन्तु जिस तरह कल तक के शोध आज का साहित्य कहला रहे हैं, उसी तरह आज का विद्रोह कल की रूढ़ि कहलाने लगेगा। विद्रोह और रूढ़ि ये दोनों आज के शत्रु और कल के पुराने भाई-बहन हैं। समय शाश्वत है। यद्यपि हम उसके तीन टुकड़े करके अपना सन्तोष कर लेते हैं। जिस तरह चित्रकार निस्सीम पृष्ठभूमि पर छोटी-छोटी सीमाएं बनाकर वस्तुओं के प्राण और अस्तित्व का भान कराया करता है उसी तरह हम समय के टुकड़े करके युग को अपनी अज्ञता और विज्ञता का परिचय कराया करते हैं। जिसे हम भूतकाल कहते हैं, वह अनन्त है—शोधों, यादों और कृतियों के इतिहास से भरा हुआ है। किसे हम भविष्यकाल कहते हैं, वह हमारी सृजन-शक्ति का अटल विश्वास है, जिसे हमने भूतकाल की संचित निधि-रूप पाया है। किन्तु जिसे हम वर्तमान कहते हैं, वह हमारी साँसों में से इस तरह फिसल रहा है मानो वह अभी-अभी है और अभी ही हाथ से निकल जायगा। वर्तमान हमें बाजार में बिकती हुई बरफ की चट्टान की तरह मिला, जिस पर अपने इरादों को पत्थर की लकीर बनाने के लिए अपनी रचना लिखी और देखते-देखते वह चट्टान रचना और रचनाकार दोनों को पानी में मिलाकर न जाने कहाँ विलीन हो गई। आकर्षणों के अंधे हम आत्म-संकीर्तन के क्षणों

में इसी वर्तमान से पराजित हैं। बरफ की चट्टान को संगमरमर की चट्टान समझकर हम बैठ गए हैं। न हमने उसे भूतकाल के हथौड़े से परखा, न भविष्य की सूर्य किरणों से उसकी जांच की। हमें अवकाश कहाँ था? पानी की चट्टान पर अपने सपनों के चित्र बनाने बैठ गए हैं। किन्तु जो काल की पृष्ठभूमि चुनने में भूल करता है उसके चित्र धुँधले हों, उसके गीत दुरूह हों, उसके स्वर अर्थहीन हों और उसकी इच्छाएं लोकरुचि तक पहुँचने में असमर्थ हों, तो इसमें आश्चर्य क्यों होना चाहिए? युग-बधू की अमर नूपुर-ध्वनि बनने के लिए चरण रखने की जमीन दृढ़ तो चाहिए। इसीलिए भूतकाल यानी इतिहास ऐसे निर्माणों को अपने पास संचित रखने से इन्कार कर देता है और वर्तमान काल यानी लोक-रुचि उसे सुनने में बहरी हो जाया करती है। यही कारण है कि आज के तरुण को युग ने विद्रोह के लिए आमन्त्रित किया।

ध्वन्यालोक में अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के विषय में लिखा है, 'प्रतिभा अपूर्व, वस्तु, निर्माण क्षमा, प्रज्ञा।' आज का कलाकार इस कथन को टालकर नहीं इस कथन को सम्पूर्णतः मानकर विद्रोह के लिए उपस्थित है। इसलिए कि बीते युग के कलाकारों ने और पाठकों ने कला का स्मरण नहीं विस्मरण माना। कला मानो जगत् के द्वन्द्वों को भुला देने में एक मोहक, कोमल सुन्दर भुलावा रही है। आज का कलाकार कला में कष्टों का इतिवृत्त लिखने की क्षमता चाहता है। वह वस्तुस्थिति का विस्मरण नहीं, चित्र चाहता है। वेदान्त का वैराग्य, धन की हृदयहीनता और उद्दण्डता और कला की विस्मरणशीलता का काव्यशास्त्र-विनोद आज के कलाकार के लिए मानो एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं। वह साहित्य को दोनों सिरों से जलाई जाने वाली मोमबत्ती का ऐसा खेल नहीं मानता जिसके प्रकाश के कुछ मानी न हों और जिसका अस्तित्व क्षण-भर में नष्ट किया जा सके। इसीलिए आज का कलाकार कालिदास का कला-वैभव लेकर तुलसीदास के चरणों में

चढ़ाने को बाध्य है। बेहोशी भुलावा बनकर चाहे शराब से आये चाहे कला से, जब तक रोम-रोम में रमकर अभिमत की आँखों और अँगुलियों पर उतारने की क्षमता उस बेहोशी में न हो, आज का कलाकार उसे विश्व का स्थिर तन्तु मानने के लिए तैयार नहीं है। आज के चिन्तक के लिए कला अयथार्थ का ऐसा आवरण नहीं है जो यथार्थ के कष्टों से बचा ले जाने के लिए खुद धोखा खा सके और पीढ़ी को भी धोखा खाने के लिए समर्थ कर सके। वह यह भी नहीं मानता कि प्राचीन कौशल को थोड़ा-सा बदल देने से नवीन कला का निर्माण हो जायगा। वह मानव-धारणा की समूची पृष्ठभूमि में ही परिवर्तन चाहता है। नित नव वैभव से भरी कला ऐसी सूझहीन कैसे होगी जो बदलते युग का सामना न कर सके। किसी युग के कलाकार का विष्णु शेषनाग की गोद में लेटे हुए लक्ष्मी से पैर दबवाते हुए क्षीर सागर में निवास करता था। बदले युग का बलिपंथी कलाकार साश्रु नयन भक्त बनकर आया और उसने क्षीर सागर से खींचकर अपने प्रभु से नामदेव की कुटिया बनवाई। भिन्न-भिन्न रूपों में भक्तों ने अपने मालिक से कौन-कौन-सी मजदूरियाँ नहीं लीं? यदि आज का कलाकार अपने भक्त पूर्वजों की इन स्नेहभरी सूझों से सबक लेता है तो उसे अपराधी कैसे माना जाय? जो धारणाएं बहुत बूढ़ी हो गई हैं, जिनमें विश्व में चलने-फिरने की क्षमता नहीं रह गई है, वे समाधि क्यों न ले लें? यदि वे निन्दित होने से पहले समाधि ले लेंगी तो इतिहास में ठहरने के लिए जगह पा लेंगी; नहीं तो वे साँस लेकर जीनेवाला मुर्दा बनकर जियें भले ही, वायुयान की गति से दौड़ते हुए विश्व के द्वारा उनके भाग्य में नष्ट और दुर्गन्धित होना ही लिखा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, धार्मिक धारणा, राष्ट्रीय आवश्यकता, नैतिक आधार और व्यक्ति की उमंगें और जरूरतें, ये अपनी जगह पर ठीक हैं; किन्तु ये अपने बंधनों में जकड़ कर कलाकार से सब कुछ माँगें, उससे सूझहीनता और स्नेहहीनता की माँग न करें। ये उसे हर्ष

गया है, स्वयं उपभोग करने लगा है। वे कहते हैं कि श्रद्धा ने सूफ़ों के आसमान में पानी बरसाया किन्तु रूढ़ि के हिमालय पर वह पत्थर बनकर बैठ गया। उसे नीचे जन-जीवन में जाना होगा। वह प्रवाहमयी गंगा के इस स्वभाव से घबरा उठा। इसलिएः—

'काव्यशास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'

की बात इस युग के नन्हें कलाकार को स्वीकार नहीं है। वह तो रस के आनन्द में गर्वीला होकर भी जीवन की कीमत कूतने से इन्कार नहीं कर सकता। जीवन की उपेक्षा में पुरुषार्थ का अनुभव नहीं करता। वह जीवन की पूरी कीमत कूतना चाहता है और उस पर हँसकर मिट जाने में रस का अनुभव करता है। यह सच है कि कला की कलम को वे नहीं छू सकते जो तन्मयता उत्पन्न न कर सकें। जिन्होंने शस्त्र चलाना ही नहीं सीखा है वे शस्त्र लादकर यदि युद्ध-भूमि की यात्रा करते भी, तो क्या करते। सच तो यह है कि कला की कलम में दर्पण की तरह समाज के संचित बल और भविष्य के संकेतों का दर्शन होना चाहिए। कहते हैं, कला जीवन का प्रतिबिम्ब है। वह प्रतिबिम्ब कैसा जो बिम्ब की कमियाँ सुझा न सके।

जीवन तो मानव की गति को रोकने वाली रुकावटों से लड़ते हुए उनका नाश करने और अनुकूलता में गड़ने वाले काँटों को उखाड़ फेंकने और युग की पुस्तक के पन्नों को उत्तरदायित्व की स्नेहमयी अंगुलियों से पलटते जाने में ही अपनी परिभाषा देखता है। कला इस जीवन से दूर रहकर कहाँ रहेगी? क्या जीवन जलता रहेगा और कला बाँसुरी बजाती रहेगी, क्या वह इतनी निष्ठुर हो सकेगी? जिस तरह समुद्र की लहरें सौ-सौ मील आगे और पीछे जाकर भी गम्भीर जल में शाश्वत सजगता का निर्माण किये रहती हैं, उसी तरह कला को द्रवित, मधुर, शीतल, प्राणमय रहते हुए भी उसमें जीवन को संवारने की शाश्वत सजगता होनी चाहिए।

गुर्जर कवि नानालाल ने एक बार लिखा था कि 'पूर्व और पश्चिम

पृथ्वी की तराजू के दोनों पलड़े हैं और भारतवर्ष इन दोनों पलड़ों के बीच की डाँड़ी है' नानालाल जो उत्तरदायित्व भारतीय कला को सौंपना चाहते हैं, प्रभु करें हम में क्षमता हो कि हम उसे स्वीकार कर सकें।

क्या देश के नकशे पर कला अपना कोई चिह्न नहीं चाहती। चिह्न के मानी हैं प्रतिनिधित्व। उत्तरदायित्व के खतरों से अपना मुँह चुराकर प्रतिनिधित्व कैसा? मोहक और मीठे शब्द, उलझे अर्थ, सलोनी आकृति, सुन्दर स्वरूप इन सबके एकत्रित काँजी हाउस को हम साहित्य कह सकेंगे। जीवित समाज के प्रतिबिम्ब तो स्वयं जाति होंगे—एक दूसरे से बोलते हुए, एक दूसरे से होड़ लेते हुए। देश की स्वतन्त्रता के दो बरसों पर बैठकर ज्ञान का लेखा-जोखा लेने वाले हम लोग अपना लेखा-जोखा न भूलें। संघर्ष, शोध, खतरे, परिवर्त्तन, क्रियाशीलता और पुरुषार्थ इन सबके बीच हमारी प्राणवान् कला का स्वर प्रतिबिम्बित होना चाहिए। हमारी कला देश की उबासियों जैसी अल्पप्राण न हो। वह श्वासों जैसी महाप्राण होनी चाहिए। लगभग ७ शताब्दियों के पश्चात् भारतीय स्वतन्त्रता की टूटी कड़ियाँ फिर जुड़ीं; इन कड़ियों के जुड़ने का स्वर हमारी कला में प्रतिबिम्बित होना चाहिए। मुझे तो एक ही बात कहनी है और मैंने एक ही बात कही कि प्रभु करें यह मस्तक और मस्तकशोल उस देश की आराधिका राधिका के स्वरों के खिलवाड़ बन सकें जिसके आकर्षण से प्रभावित मुरलीधर कृष्ण कहला सकें। जीवन हमारा कृष्ण हो, कला हमारी राधिका हो और हम ऐसे तीर्थ-यात्री हों जो अपने देवत्व पर अपना समस्त चढ़ा सकें, अपना सब-कुछ समर्पित कर सकें।

★

आठ : : कला और नीति

(श्री इलाचन्द्र जोशी)

कला का मूल उत्सव आनन्द है। आनंद प्रयोजनातीत है। सुन्दर फूल देखने से हमें आनंद प्राप्त होता है; पर उससे हमारा कोई स्वार्थ या प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। प्रभात की उज्ज्वलता और सन्ध्या की स्निग्धता देखकर चित्त को एक अपूर्व शांति प्राप्त होती है; पर उससे हमें कोई शिक्षा नहीं मिलती, और न कोई सांसारिक लाभ ही होता है। कारण आनंद का भाव समस्त लौकिक शिक्षा तथा व्यवहार से अतीत है। उसमें कोई बहस नहीं चल सकती। हमें आनंद क्यों मिलता है, इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता। वह केवल अनुभव ही किया जा सकता है। "ज्यौं गूँगे मीठे फल को रस अंतर्गत ही भावै।" आनंद का भाव वाणी और मन की पहुँच के बिलकुल अतीत है। "यतो वाचा निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।" पर नीति का सम्बन्ध चेतन मन के साथ है। चेतन मन बिना आलोचना के आनंद के सहज भाव को ग्रहण नहीं करना चाहता। वह पोथी पढ़-पढ़कर 'पंडिताई' में मस्त रहता है। सहज प्रेम के 'ढ़ाई अच्छर' से उसकी तृप्ति नहीं होती। वह कविता पढ़कर इस बात की खोज में लग जाता है कि इसमें अर्थनीति, राजनीति, राष्ट्रतत्व, भूतत्व, जीव-तत्व अथवा और कोई तत्व हैं या नहीं। वह यह नहीं समझना चाहता कि इस कविता में आनन्द का जो अमिश्रित रस है, उसके सामने किसी भी तत्व का

कोई मूल्य नहीं। पर जो लोग इस दुष्ट समालोचक मन को दमन करने में समर्थ होते हैं, वे कला के 'आनन्दरूपममृतम्' का अनुभव कर लेते हैं। उपनिषदों में हमारे भीतर पाँच पृथक्-पृथक् कोषों का अवस्थान बतलाया गया है—अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। आनंदमय कोष के संस्थान के लिए हमें अर्थनीति की आवश्यकता होती है। प्राणमय कोष की पुष्टि के लिए धर्मनीति की, मनोमय कोष के लिए कामनीति की, और विज्ञानमय कोष के लिए वैज्ञानिक नीति की। पर जब इन सब कोषों की स्थिति को पार करके मनुष्य आनन्दमय कोष के द्वार खटखटाता है, तो वहाँ सब प्रकार की नीति तथा नियमों के गट्ठर को फेंककर भीतर प्रवेश करना पड़ता है। वहाँ यदि नीति किसी उपाय से घुस भी गई तो उसे इच्छा के शासन में वेष बदलकर दुबके हुए बैठना पड़ता है। लौकिक तथा प्राकृतिक बंधनों की अवज्ञा करने वाली इस सर्वजयी इच्छा महारानी के आनन्दमय दरबार में नैतिक शासन का काम नहीं है, वहाँ सहज प्रेम का कारोबार है। वहाँ इस प्रेम के बंधन में बँधकर पाप और पुण्य भाई-भाई की तरह एक दूसरे के गले मिलते हैं।

नीति? इस विपुल सृष्टि के मूल में क्या नीति है? क्या प्रयोजन क्या तत्व है? प्रतिदिन असंख्य प्राणी विनाश को प्राप्त हो रहे हैं असंख्य प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं; उत्पन्न होकर फिर अपने प्रेम, घृणा, सुख-दुःख, हंसी रुलाई का चक्र पूरा करके अनन्त में विलीन हो रहे हैं। इस समस्त चक्र का अर्थ ही क्या है? अर्थ कुछ भी नहीं; यह केवल भूमा के सहज आनन्द की लीला है।

विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति, तत्व अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके अलौकिक मायाचक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंक की कला

के भीतर किसी तत्व की खोज करना सौंदर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है।

हिन्दी-साहित्य के वर्तमान समालोचक जब तक कला की किसी रचना में कोई तत्व नहीं पाते, तब तक उसकी श्रेष्ठता स्वीकार करने में अपना अपमान समझते हैं। जिन रचनाओं की वे प्रशंसा करते हैं, उनकी विशेषता के सम्बन्ध में यदि उनसे पूछा जाय, तो वे उत्तर देते हैं, अमुक रचना में किसानों की दुर्दशा का प्रश्न हल किया गया है, अमुक ग्रन्थ में राष्ट्रतत्व की व्याख्या बहुत अच्छी तरह की गई है, अमुक ग्रन्थ में हमारे सामाजिक पतन पर विचार किया गया है। यह हमारे समालोचकों के कला-सम्बन्धी विचारों के आदर्शों का नमूना है! इन आदर्शों के आधार पर कला की श्रेष्ठता का विचार करने से साहित्य में हीनता उपस्थित होती है।

रामायण के मूल आदर्श के भीतर हमको कौन-सा नैतिक तत्व प्राप्त होता है? कुछ भी नहीं। उसके भीतर केवल राम की विपुल प्रतिभा की स्वाधीन इच्छा का लीलामय चक्र, विस्तृत रूप से अत्यन्त सुन्दरता के साथ, चित्रित हुआ है। रामायण निस्सन्देह बृहत् ग्रन्थ है, और उसके विस्तृत क्षेत्र में सहस्रों प्रकार के नैतिक उपदेश स्थान-स्थान पर ढूँढ़ने से मिल सकते हैं। पर इस प्रकार खंड-खंड रूप से इस महाकाव्य को विभक्त करने से उसकी अखंड, वास्तविक तथा मूल सत्ता का नाश हो जाता है। यदि उसकी वास्तविक श्रेष्ठता का कारण हमें मालूम करना है, तो हमें उसकी समग्रता पर ध्यान देना होगा। उसके मूल आदर्श पर विचार करना पड़ेगा। रामायण से यदि हमें केवल यही तत्व पाकर सन्तोष करना पड़े कि उसमें पितृ-भक्ति, भ्रातृ-स्नेह तथा पातिव्रत्य का उपदेश दिया गया है, तो यह महाकाव्य अपनी आनन्दोत्पादिनी महत्ता को खोकर एक अत्यन्त क्षुद्र नीति-ग्रन्थ में परिणत हो जाता है! ऐसे उपदेश हमें सहस्रों साधारण नैतिक श्लोकों तथा प्रवचनों

से रात-दिन मिलते रहते हैं। तब इस काव्य में विशेषता क्या है? इसकी कथा सहस्रों वर्षों से जनता के हृदयों में अखंड रूप से क्यों विराजती आई है? कारण वही है जो हम पहले बतला आए हैं। अनादि पुरुष की 'एकोऽहं बहुस्याम्' की इच्छा की तरह प्रतिभा भी सृजन का कार्य करती है। जिस प्रकार सृष्टि कर्ता के उपदेश का रहस्य कुछ न जानने पर भी हमें उनकी माया के खेल में आनन्द आता है, उसी प्रकार प्रतिभा की स्वाधीन इच्छामयी उद्दाम प्रवृत्ति की सर्जना का अभिनव विलास देखकर, उसका मूल उद्देश्य न समझने पर भी, हमें सुख प्राप्त होता है। राम की प्रतिभा अपूर्व तथा सुविस्तृत थी। राम तत्काल वन-गमन के लिए क्यों तत्पर हो गए! पिता की आज्ञा का पालन करने के लिए उन्होंने ऐसा नहीं किया। वह पिता की इच्छा भली-भाँति जानते थे। वह जानते थे, पिता उन्हें वन भेजना नहीं चाहते और यथाशक्ति उन्हें उनके ऐसा करने से रोकेंगे। पर प्रतिभा किसी भी बात पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से विचार करके बाल की खाल निकालना नहीं चाहती। इसीलिए लोग उसका इतना सम्मान करते हैं। वह एक झलक में समस्त स्थिति को समझकर अपना कर्तव्य निर्धारण कर लेती है। अंगरेजी में जिसे exalted state of mind (मन की उन्नत अवस्था) कहते हैं, राम की मानसिक स्थिति सर्वदा, सब समय वैसी ही रहती थी। उनकी प्रतिभा की विपुलता अपने-आप में आबद्ध न होकर प्रतिक्षण नाना रूपों में, नाना क्षेत्रों में, अपने को विस्तारित करने के लिए उन्मुख रहा करती थी। उसकी गति प्रतिक्षण वर्तमान को भेदकर सुदूर भविष्य की ओर प्रवाहित होती रहती थी। पति-पत्नी, पिता-पुत्र तथा भाई-भाई के बीच तुच्छ स्वार्थ की छीना-झपटी की अत्यन्त हास्यकर तथा नीच प्रवृत्ति के प्रबल प्रकोप की आशंका करके उन्होंने अत्यन्त प्रसन्नता तथा वज्र कठिन दृढ़ता के साथ महत् त्याग स्वीकार किया और अपने गृह में घनीभूत स्वार्थ भाव को, त्याग के करुणाविगलित रस से बहाकर, साफ कर दिया। उन्होंने

पिता का प्रण निभाया, इस बात पर हमें उतनी श्रद्धा नहीं होती, जितनी इस बात पर विचार करने से कि उन्होंने इस स्वार्थ-मग्न संसार के प्रतिदिन के व्यवहार की यवनिका भेदकर सुदूर अनन्त की ओर अपनी प्रतिभा की सुतीक्ष्ण दृष्टि प्रेरित की। उनकी इस इच्छा-शक्ति के वेग की प्रबलता के कारण ही हमें इतना आनन्द प्राप्त होता है, और हृदय बारम्बार संभ्रम तथा श्रद्धा के साथ उनके पैरों तले पतित होना चाहता है।

यदि कोरी नीति के अपराध पर ही समस्त कार्यों का निर्धारण करना हो, तो राम का वन-गमन अनीतिमूलक भी कहा जा सकता है। उनके वन-गमन से उनकी प्रजा को कितना कष्ट उठाना पड़ा, इसका उल्लेख रामायण में ही है। उनके पिता की मृत्यु का कारण भी यही था। भरत को सुख-भोग की जगह तपस्या करनी पड़ी। यह सब परिणाम समझ कर ही राम वन गए थे। वन में उन्हें जाबालि मुनि मिले थे। जाबालि ने उनके वनवास को व्यर्थ साधना बतलाया। उन्होंने कहा कि "तुम्हारी इस साधना की कुछ भी उपयोगिता नहीं। तुम समझते हो कि पिता का प्रण निभाकर मैंने महत् कार्य किया है। पर यदि वास्तव में देखा जाय तो कौन किसका पिता है, कौन किसका भाई ? जब तक जीवित रहना है, तब तक मौज करते चले जाओ, इस भस्मी-भूत देह का पुनरागमन कहाँ है ? मरने के बाद कौन पिता है, और कौन पुत्र ? केवल दुर्बल भावुकता के कारण ही तुमने वन-गमन स्वीकार किया है, और मोहांधता के कारण इस त्याग को तुम श्रेष्ठ आदर्श समझे बैठे हो।" यदि केवल नीति के ही पीछे लगा जाय, तो जाबालि की यह उक्ति वास्तव में यथार्थ जान पड़ती है। परलोक को कौन जानता है, इसी जीवन में प्रत्यक्ष में जो निश्चित लाभ होता है, चाणक्य की "यो ध्रुवाणि परित्यज्य" वाली नीति के अनुसार वही श्रेष्ठ है। और "आत्मानं सततं रक्षेत् दारैरपि" वाली उक्ति से भी परिचित हैं। अपना स्वार्थ ही कोरा नीति की दृष्टि से सब से बड़ी बात है। पर हम

पहले ही कह आये हैं कि प्रबल प्रतिभा का संप्लवन नैतिक तथा नैयायिक उक्तियों को ग्रहण नहीं करता। इकारण ही अपने को प्लावित करने में उसे आनन्द मिलता है। राम जानते थे कि उनके वन-वास की सार्थकता नहीं है; पर उनकी प्रतिभा ने यही दिखलाना चाहा कि उनका आत्मा अनन्त की विपुलता से पागल है, और अपने क्षुद्र परिवेष्टन के भीतर बन्द नहीं रहना चाहता। आत्म-प्रकाश का आनन्द इसे ही कहते हैं। यदि नैतिक उपयोगिता का विचार करके उन्होंने वन-गमन किया होता, तो यह घटना आज मानव-हृदय को करुणा से इतना द्रवीभूत न करती। कवि के तीव्र आत्मानुभव तथा उसकी कल्पना की वास्तविकता का परिचय हमें यहीं पर मिलता है।

यदि नीति की छोटी-मोटी बातों पर ध्यान देना आवश्यक होता, तो आज हम महाभारत के समान विपुल काव्य से वंचित रहते। कवि को बात-बात पर सफाई देनी होती कि द्रौपदी के पाँच पति क्यों थे, तो वेदव्यास-जैसे महात्मा का जन्म घृणित व्यभिचार से क्यों हुआ? धृतराष्ट्र और पांडु क्षेत्रज्ञ पुत्र होने पर भी महागौरवशाली क्यों हुए? कुन्ती कौमार्यावस्था में ही गर्भवती होने पर भी पांडवों की सर्वजन प्रशंसिता माता क्यों हुईं? (सूर्य की दुहाई देना वृथा है; विवेचक पाठक जानते हैं कि सूर्य के समान किसी तेजस्वी पुरुष के औरस से ही कर्ण का जन्म हुआ था—सूर्य रूपक-मात्र है) ऐसे असंख्य उदाहरण दिये जा सकते हैं। पर महाभारत की कलम लेश-मात्र भी इन कारणों से नहीं हिचकी। कारण स्पष्ट है। कवि यही दिखलाना चाहता है कि इन तुच्छ नैतिक उल्लंघनों से उसके महत् आदर्श पर किंचिन्मात्र भी आँच नहीं आ सकती। इस सम्बन्ध में हम विस्तृत रूप से और किसी लेख में विचार करेंगे। यहाँ पर हम केवल यह दिखलाना चाहते हैं कि कला का आदर्श नीति से बहुत ऊपर उठा हुआ होता है।

कालिदास का मेघदूत क्या नीति सिखाता है? विरह-जन्य आनन्द

की इस रचना का लक्ष्य यदि नीति की ओर होता, तो वह असह्य हो उठती। अलकापुरी के जिस आनन्दमय देश की ओर कवि हमें आकर्षित करके ले चलता है, उसके सम्बन्ध में हमारे मन में यह प्रश्न बिलकुल ही नहीं उठता कि वहाँ जाकर क्या होगा? किसी नैतिक लाभ के लिए हम अलकापुरी नहीं जाते, हम जाते हैं आनन्द की विपुलता का अनुभव करने के लिए। वहाँ जिस आनन्द का हम अनुभव करते हैं, वह तुच्छ सुख-दुख, क्षुधा-तृष्णा तथा पाप-पुण्य से अतीत है।

केवल हमारे ही देश में नहीं, पाश्चात्य देशों में भी बहुत-से लोग नीति के उपासक हैं। गेटे की रचनाओं में नीति की अवहेलना देखकर कई लोग उन पर बरस पड़े। शेक्सपीयर के नाटकों में से कई समालोचक अपनी इच्छानुसार नीति निकालने में व्यस्त रहते हैं। प्रकृति के सच्चे उपासक, प्रसिद्ध फ्रांसीसी चित्रकार मिले की कला के बहुत-से आलोचकों ने उसकी राजनीतिक व्याख्या करने की चेष्टा की थी। वह बात इस प्रकृति के चतुर चितेरे को बहुत बुरी लगी। प्रसिद्ध क्रांतिकारी प्रूधों ने उसे चित्रों के जरिए राजनीतिक प्रश्न हल करने के लिए उकसाया; पर वह इस अयुक्त प्रस्ताव पर सम्मत नहीं हुआ। इससे यह न समझना चाहिए कि वह देशद्रोही था। राजनीति से देश-प्रेम का कोई सम्बन्ध नहीं। सहज प्रेम के साथ नीति का क्या सम्बन्ध हो सकता है? मिले स्वयं कृषक का पुत्र था, और किसानों के प्रति उसकी इतनी सहानुभूति थी कि उसके प्रायः सभी चित्रों से कृषक-जीवन की सरलता का सुमधुर परिचय मिलता है। उसके चित्रों की सरलता से मानवात्मा की यातनाओं का आभास अत्यन्त सुन्दर रूप से आँखों में झलकता है, और हृदय में किसानों के प्रति आंतरिक सहानुभूति उमड़ पड़ती है। पर उसका उद्देश्य किसानों की दुर्दशा का चित्र खींचकर तात्कालिक साम्यवाद की राजनीतिक महत्ता 'प्रचार' करने का नहीं था। यही कारण है कि उसके चित्रों ने अमरत्व प्राप्त कर लिया है।

महाकवि गेटे को जर्मनी के कई समालोचकों ने इस बात के लिए कोसा था कि वे सदा राजनीति से विमुख रहे हैं। इस पर उन्होंने लूडन से कहा था—"जर्मनी मुझे प्राणों से प्यारा है। मुझे बहुधा इस बात पर दुःख होता है कि जर्मन लोग व्यक्तिगत रूप से इतने उन्नत होने पर भी समष्टि के विचार से इतने ओछे हैं। अन्य जाति के लोगों के साथ जर्मन लोगों की तुलना करने से हृदय में व्यथा का भाव उत्पन्न होता है; और इस भाव को मैं किसी भी उपाय से भूलना चाहता हूँ। कला और विज्ञान में मैं इस व्यथाजनक भाव से त्राण पाता हूँ, क्योंकि उनका सम्बन्ध समस्त विश्व से है, और उनके आगे राष्ट्रीयता की सीमा तिरोहित हो जाती है।" पाठकों को मालूम होगा कि रवीन्द्रनाथ का भी यही मत है। गेटे ने किसी अन्य स्थान पर कहा है—"सत्य की इस सरल उक्ति पर लोग विश्वास नहीं करना चाहते कि कला का एक-मात्र उन्नत ध्येय उच्च भाव को प्रतिबिम्बित करना है।" इङ्गलैंड के प्रसिद्ध साहित्यालोचक कार्लाइल जब एक बार बर्लिन गए थे, तो किसी भोज के अवसर पर कुछ लोगों ने गेटे पर यह दोष लगाना आरम्भ किया कि इतने बड़े प्रतिभाशाली कवि होने पर भी उन्होंने धर्मसंबंधी बातों की अवहेलना की है। कार्लाइल ने उनकी संकीर्णता से कुढ़कर कहा "कभी उस आदमी की कहानी नहीं सुनी जो सूर्य को इस कारण कोसता था कि वह उसकी चुरट जलाने के काम नहीं आता?" यह मुँहतोड़ जवाब सुनकर किसी के मुँह से एक शब्द न निकला!

सभी जानते हैं कि रूसो नीति के कितने पक्षपाती थे। पर जब वह कला की रचना करने बैठते थे तब नीति-वीति सब भूल जाते थे। उनके प्रसिद्ध उपन्यास 'ला नूबेल एलोइज' में उनके हृदय की क्षुब्ध वेदना प्रतिबिम्बित हुई है। उसके इस आत्म-प्रकाश की मनोहरता के कारण ही यह ग्रन्थ इतना आदरणीय है सच्चा कलाविद् हृदय की प्रेरणा से ही चित्र खींचता है; न कि बाह्य आवश्यकता के अनुसार!

टाल्स्टाय को नीति की छोटी-छोटी बातों का भी बड़ा ख्याल रहता था। यहाँ तक कि अपनी 'कला क्या है ?' नामक पुस्तक में उन्होंने अनीति-मूलक ग्रन्थों की तीव्र निन्दा करके यह मत प्रतिष्ठित किया है कि कला के भीतर नीति का होना परमावश्यक है। उन्होंने जिस समय यह मत प्रचारित किया था, उस समय उन्होंने यह भी लिखा था कि "मेरी इस समय से पहले की रचनाएं दोष-पूर्ण समझी जानी चाहिएं।" पर उनका सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'अन्ना करेनिना' इसके बाद लिखा गया था। इसके प्रकाशित होने पर लोगों को यह आशंका हुई थी कि उसमें नीति भरी पड़ी होगी। पर उनकी यह आशंका निर्मूल निकली। टाल्स्टाय सच्चे कलाविद् तथा शिल्पी थे। उनका व्यक्तिगत मत चाहे कुछ भी रहा हो, पर उनकी आत्मा में कवि स्वभाव का राज होने के कारण कला की रचना में वह नीति की संकीर्णता घुसेड़कर कला के आदर्श को खर्च नहीं कर सकते थे। 'अन्ना करेनिना' में किसी के गार्हस्थ्य-जीवन की शांत, सुखमय छवि अवश्य हृदय को स्निग्धता पहुंचाती है, पर अभागिनी अन्ना के संघर्षण क्लिष्ट, 'दुर्नीति-मूलक', जीवन के प्रति प्रत्येक पाठक की आंतरिक समवेदना उमड़ी पड़ती है। और तो क्या, स्वयं ग्रन्थकार ने अपनी इच्छा के प्रतिकूल, अपने अनजान में, अंत तक अन्ना के जीवन की 'ट्रेजेडी' के प्रति अपनी सहानुभूति प्रदर्शित की है। आरम्भ में ग्रन्थकार का प्रकट लक्ष्य किटी के गार्हस्थ्य तथा नीति-अनुमोदित जीवन को स्निग्धता और अन्ना के जटिल तथा नीति-विरुद्ध जीवन के बीच अन्तर प्रदर्शित करके एक निश्चित नैतिक सिद्धांत प्रतिष्ठित करने का रहा है। पर थोड़ी ही दूर जाकर, दुःखिनी अन्ना के उन्नत चरित्र की जटिलता का विचार करके, उसका यह उद्देश्य शिथिल हो जाता है, और अंत को जाकर मानव-चरित्र की अंतर्गत दुर्बलता की समस्या का कोई समाधान ही कवि नहीं करने पाया है। कहाँ वह कठिन नीतिज्ञ का निष्ठुर दंड लेकर 'दुर्नीति' को शासित करने चला था, कहाँ शासित व्यक्ति के साथ

मानवत्व के समान सूत्र में ग्रसित होकर उसे भी रोना पड़ा है ! सच्चे कलाविद् की श्रेष्ठता का प्रमाण इसी से मिलता है। वह अपने प्राणों की प्रेरणा से चरित्र चित्रित करता है, और अपने प्राणों ही में वह उन चरित्रों की यातनाओं का अनुभव करता है। धर्मध्वजी लेखक की तरह, अपने चरित्रों से अपने को बिलकुल अलग समझकर वह शासक नहीं बनना चाहता।

जहाँ किसी नीति को प्रतिष्ठित करना ही लेखक का मूल उद्देश्य रहता है, वहाँ वह संकीर्णता का प्रचार करता है, पर जहाँ सत्य, सौंदर्य तथा मंगल से पूर्ण स्वाभाविक छवि चित्रित करके ही चित्रकार अपना काम पूरा हुआ समझता है, वहाँ उस आदर्शमय चित्र की स्वाभाविक सरलता हृदय को उन्नत बनाने में सहायक होती है।

समीक्षा

एक : : हिन्दी का भक्ति-साहित्य

(श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी)

जिस समय हिंदी का भक्ति-साहित्य बनना शुरू हुआ था वह समय एक युग-संधि का काल था। प्रथम बार भारतीय समाज को एक ऐसी परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था जो उसकी जानी हुई नहीं थी। अब तक वर्णाश्रम-व्यवस्था का कोई प्रतिद्वंद्वी नहीं था। आचारभ्रष्ट व्यक्ति समाज से अलग कर दिये जाते थे और वे एक नई जाति की रचना कर लिया करते थे। इस प्रकार यद्यपि सैंकड़ों जातियाँ और उपजातियाँ बनती जा रही थीं, तथापि वर्णाश्रम व्यवस्था किसी-न-किसी प्रकार चलती ही जा रही थी। अब सामने एक सुसंगठित समाज था जो प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक जाति को अपने अन्दर समान आसन देने की प्रतिज्ञा कर चुका था। एक बार कोई भी व्यक्ति उसके विशेष धर्ममत को यदि स्वीकार कर ले तो इस्लाम समस्त भेद-भाव को भूल जाता था। वह राजा से रंक और ब्राह्मण से चाण्डाल तक सबको धर्मोपासना का समान अधिकार देने को राजी था। समाज का दण्डित व्यक्ति अब असहाय न था। इच्छा करते ही वह एक सुसंगठित समाज का सहारा पा सकता था। ऐसे ही समय में दक्षिण से भक्ति का आगमन हुआ जो "बिजली की चमक के समान" इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैल गई। इसने दो रूपों में अपने आपको

प्रकाशित किया। यही वे दो धाराएं हैं जिन्हें निर्गुण-धारा और सगुण-धारा नाम दे दिया गया है। इन दोनों साधनाओं ने दो पूर्ववर्ती धर्ममतों को केन्द्र बनाकर ही अपने आपको प्रकट किया। सगुण उपासना ने पौराणिक अवतारों को केन्द्र बनाया और निर्गुण उपासना ने योगियों अर्थात् नाथपंथी साधकों के निर्गुण परब्रह्म को। पहली साधना ने हिन्दू जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आन्तरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने सगुण भगवान् को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान् को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था, सूखा ज्ञान दोनों को ही अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों में से किसी का सम्मत नहीं था, आन्तरिक प्रेम-निवेदन दोनों को इष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी, आत्म-समर्पण दोनों के साधन थे। भगवान् की लीला में दोनों ही विश्वास करते थे। दोनों ही का अनुभव था कि भगवान् लीला के लिए ही इस जागतिक प्रपंच को सम्हाले हुए हैं। पर प्रधान भेद यह था कि सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त भगवान् को अलग रखकर देखने में रस पाते रहे, जब कि निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्त अपने आप में रमे हुए भगवान् को ही परम काम्य मानते थे।

उन दिनों भारतवर्ष के शास्त्रज्ञ विद्वान् निबंध रचना में जुटे हुए थे। उन्होंने प्राचीन भारतीय परम्परा को शिरोधार्य कर लिया था, —अर्थात् सब कुछ को मानकर, सबके प्रति आदर का भाव बनाए रखकर, अपना रास्ता निकाल लेना। सगुण भाव से भजन करने वाले भक्त लोग भी संपूर्ण रूप से इसी पुरानी परम्परा से प्राप्त मनोभाव के पोषक थे। वे समस्त शास्त्रों और मुनिजनों को अकुण्ठ चित्त से अपना नेता मानकर

उनके वाक्यों की संगति प्रेम पक्ष में लगाने लगे । इसके लिए उन्हें मामूली परिश्रम नहीं करना पड़ा । समस्त शास्त्रों के प्रेम-भक्ति-मूलक अर्थ करते समय उन्हें नाना अधिकारियों और नाना भजन-शैलियों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ी, नाना अवस्थाओं और अवसरों की कल्पना करनी पड़ी, और शास्त्र-ग्रन्थों के तारतम्य की भी कल्पना करनी पड़ी । सात्त्विक, राजसिक और तामसिक प्रकृति के प्रस्तार-विस्तार से अनन्त प्रकृति के भक्तों और अनन्त प्रणाली के भजनों की कल्पना करनी पड़ी । सबको उन्होंने उचित मर्यादा दी और यद्यपि अन्त तक चलकर उन्हें भागवत महापुराण को ही सर्व-प्रधान प्रमाण ग्रन्थ मानना पड़ा था, पर अपने लम्बे इतिहास में उन्होंने कभी भी किसी शास्त्र के संबध में अवज्ञा या अवहेला का भाव नहीं दिखाया । उनकी दृष्टि बराबर भगवान् के परम प्रेममय रूप और मनोहारिणी लीला पर निबद्ध रही, पर उन्होंने बड़े धैर्य के साथ समस्त शास्त्रों की संगति लगाई । सगुण भाव के भक्तों की महिमा इनके असीम धैर्य और अध्यवसाय में है, पर निर्गुण श्रेणी के भक्तों की महिमा उनके उत्कट साहस में है । एक ने सब कुछ को स्वीकार करने का अद्भुत धैर्य दिखाया दूसरे ने सब कुछ छोड़ देने का असीम साहस ।

लेकिन केवल भगवत्प्रेम या पांडित्य ही इस युग के साहित्य को रूप नहीं दे रहे थे । कम-से-कम हिंदी के भक्ति-साहित्य को काव्य के नियमों और प्रभावों से अलग करके नहीं देखा जा सकता । अलंकार शास्त्र और काव्यगत रूढ़ियों से उसे एकदम मुक्त नहीं कहा जा सकता । परन्तु फिर भी वह वही चीज़ नहीं है जो संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के पूर्ववर्ती साहित्य हैं । विशेषताएं बहुत हैं और हमें उन्हें सावधानी से जाँचना चाहिए ।

यह स्मरण किया जा सकता है कि अलंकारशास्त्र में देवादि-विषयक रति को भाव कहते हैं । जिन आलंकारिकों ने ऐसा कहा था उनका

तात्पर्य यह था कि पुरुष का स्त्री के प्रति और स्त्री का पुरुष के प्रति जो प्रेम होता है उसमें एक स्थायित्व होता है, जब कि किसी राजा या देवता संबंधी प्रेम में भावावेश की प्रधानता होती है, वह अन्यान्य संचारी भावों की तरह बदलता रहता है। परन्तु यह बात ठीक नहीं कही जा सकती। भगवद्-विषयक प्रेम को इस विधान के द्वारा नहीं समझाया जा सकता। यह कहना कि भगवद्विषयक प्रेम में निर्वेद भाव की प्रधानता रहती है, अर्थात् उसमें जगत् के प्रति उदासीन होने की वृत्ति ही प्रबल होती है, केवल जड़ जगत् से मानसिक संबंध को ही प्रधान मान लेना है। इस कथन का स्पष्ट अर्थ यह है कि मनुष्य के साथ जड़ जगत् के संबंध की ही स्थायिता पर से रस का निरूपण होगा। क्योंकि अगर ऐसा न माना जाता तो शान्त रस में जगत् के साथ जो निर्वेदात्मक संबंध है, उसे प्रधानता न देकर भगवद्विषयक प्रेम की प्रधानता दी जाती। जो लोग शान्त रस का स्थायी भाव निर्वेद को न कहकर शम को कहना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसी रास्ते सोचते हैं।

इस प्रसंग में बारंबार 'जड़-जगत्' शब्द का उल्लेख किया गया है। यह शब्द भक्ति-शास्त्रियों का पारिभाषिक शब्द है। इस प्रसंग का विचार करते समय याद रखना चाहिए कि भारतीय दर्शनों के मत से शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि सभी जड़ प्रकृति के विकार हैं। इसीलिए चिद्विषयक प्रेम केवल भगवान् से संबंध रखता है। इस परम प्रेम के प्राप्त होने पर, भक्ति-शास्त्रियों का दावा है, कि अन्यान्य जड़ोन्मुख प्रेम शिथिल और अकृतकार्य हो जाते हैं। इसीलिए भगवत्-प्रेम न तो इंद्रिय-ग्राह्य है, न मनोगम्य, और न बुद्धि-साध्य। वह अनुमान द्वारा ही आस्वाद्य है। जब इस रस का साक्षात्कार होता है तो अपना कुछ भी नहीं रह जाता। इन्द्रियों द्वारा किया हुआ कर्म हो या मन बुद्धि-स्वभाव द्वारा, वह समस्त सच्चिदानन्द नारायण में जाकर विश्रमित होता है। भागवत् ने (११. २. ३६) इसीलिए कहा है :

"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यद्यत् सकल परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्॥"

पर निर्गुण भाव से भजन करने वाले भक्तों की वाणियों के अध्ययन के लिए शास्त्र बहुत कम सहायक हैं। अब तक इनके अध्ययन के लिए जो सामग्री व्यवहृत होती रही है, वह पर्याप्त नहीं है। हमें अभी तक ठीक-ठीक नहीं मालूम कि किस प्रकार की सामाजिक अवस्थाओं के भीतर भक्ति का आन्दोलन शुरू हुआ था। इस बात के जानने का सबसे बड़ा साधन लोक-गीत, लोक-कथानक और लोकोक्तियाँ हैं, और उतने ही महत्वपूर्ण विषय हैं भिन्न-भिन्न जातियों और संप्रदायों की रीति-नीति, पूजा-पद्धति और अनुष्ठानों तथा आचारों की जानकारी। पर दुर्भाग्यवश हमारे पास ये साधन बहुत ही कम हैं। भक्ति-साहित्य के पढ़ने वाले पाठक को जो बात सबसे पहले आकृष्ट करती है—विशेषकर निर्गुण भक्ति के अध्येता को—वह यह है कि उन दिनों उत्तर के हठयोगियों और दक्षिण के भक्तों में मौलिक अन्तर था। एक को अपने ज्ञान का गर्व था, दूसरे को अपने अज्ञान का भरोसा; एक के लिए पिंड ही ब्रह्माण्ड था, दूसरे के लिए ब्रह्माण्ड ही पिंड; एक का भरोसा अपने पर था, दूसरे का राम पर; एक प्रेम को दुर्बल समझता था, दूसरा ज्ञान को कठोर; एक योगी था और दूसरा भक्त। इन दो धाराओं का अद्भुत मिलन ही निर्गुण धारा का वह साहित्य है जिसमें एक तरफ़ कभी न झुकने वाला अक्खड़पन है और दूसरी तरफ़ घर-फूँक मस्ती वाला फक्कड़पन। यह साहित्य अपने आप में स्वतन्त्र नहीं है। नाथ मार्ग की मध्यस्थता में इसमें सहजयान और वज्रयान की तथा शैव और तंत्रमत की अनेक साधनाएं और चिन्ताएं आ गई हैं तथा दक्षिण के भक्ति-प्रचारक आचार्यों की शिक्षा के द्वारा वैदान्तिक और अन्य शास्त्रीय चिन्ताएं भी।

मध्ययुग के निर्गुण कवियों के साहित्य में आने वाले सहज, शून्य, निरंजन, नाद, विन्दु आदि बहुतेरे शब्द, जो इस साहित्य के मर्मस्थल

के पहरेदार हैं, तब तक समझ में नहीं आ सकते, जब तक पूर्ववर्ती साहित्य का अध्ययन गंभीरतापूर्वक न किया जाय। अपनी 'कबीर' नामक पुस्तक में मैंने इन शब्दों के मनोरंजक इतिहास की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। एक मनोरंजक उदाहरण दे रहा हूँ। यह सभी को मालूम है कि कबीर और अन्य निर्गुणिया सन्तों के साहित्य में 'खसम' शब्द की बार-बार चर्चा आती है। साधारणतः इसका अर्थ पति या निकृष्ट पति किया जाता है। खसम शब्द से मिलता-जुलता एक शब्द अरबी भाषा का है। इस शब्द के साथ समता देखकर ही खसम का अर्थ पति किया जाता है। कबीरदास ने इस शब्द का अर्थ कुछ इस लहज़े में किया है कि उससे ध्वनि निकलती है कि खसम उनकी दृष्टि में निकृष्ट पति है। परन्तु पूर्ववर्ती साधकों की पुस्तकों में यह शब्द एक विशेष अवस्था के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। ख सम भाव अर्थात् आकाश के समान-भाव। समाधि की एक विशेष अवस्था को योगी लोग भी 'गगनोपम' अवस्था कहा करते हैं। 'ख-सम' और 'गगनोपम' एक ही बात है। अवधूतगीता में इस गगनोपमावस्था का विस्तारपूर्वक वर्णन है। यह मन की उस अवस्था को कहते हैं जिसमें द्वैत और अद्वैत, नित्य और अनित्य, सत्य और असत्य, देवता और देवलोक आदि कुछ भी प्रतीत नहीं होते; जो माया-प्रपंच के ऊपर है, जो दम्भादि व्यापार के अतीत है, जो सत्य और असत्य के परे है और जो ज्ञानरूपी अमृतपान का परिणाम है। टीकाकारों ने 'ख-सम' का अर्थ 'प्रभास्वरतुल्यभूता' किया है। इस साहित्य में वह भावाभावविनिर्मुक्त अवस्था का वाचक हो गया है; निर्गुण साधकों के साहित्य में उसका अर्थ और भी बदल गया है। गगनोपमावस्था योगियों की दुर्लभ सहजावस्था के आसन से यहाँ नीचे उतर आई है। कबीरदास प्राणायाम प्रभृति शरीर-प्रयत्नों से साधित समाधि का बहुत आदर करते नहीं जान पड़ते। जो सहजावस्था शरीर प्रयत्नों से साधी जाती है वह ससीम है और शरीर के साथ-ही-साथ उसका

विलय हो जाता है। यही कारण है कि कबीरदास इस प्रकार की खसमावस्था को सामयिक आनन्द ही मानते थे। मूल वस्तु तो भक्ति है जिसके प्राप्त होने पर भक्त को नाक कान रूँधने की ज़रूरत ही नहीं होती; कंथा और मुद्रा-धारण की आवश्यकता ही नहीं होती। वह 'सहज समाधि' का अधिकारी होता है — सहज समाधि, जिसमें 'कहूं सो नाम, सुनूं सो सुमरन, जो कछु करूं सो पूजा' ही है। अब तक पूर्ववर्ती साहित्य के साथ मिलाकर न देखने के कारण पंडित लोग 'खसम' शब्द के इस महान् अर्थ को भूलते आए हैं। मैंने उल्लिखित 'कबीर' पुस्तक में विस्तृत भाव से इस शब्द के पूर्वापर अर्थ का विचार किया है और इसीलिए मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि कबीरदास 'खसम' शब्द का व्यवहार करते समय उसके अरबी अर्थ के अतिरिक्त भारतीय अर्थ को भी बराबर ध्यान में रखते हैं। मेरा विश्वस है कि नेपाल और हिमालय की तराइयों में जहाँ जहाँ योग मार्ग का प्रबल प्रचार था, वहाँ के लोक-गीत और लोक कथानकों से ऐसे अनेक रहस्यों का उद्घाटन हो सकता है।

परन्तु संयोग और सौभाग्यवश जो पुस्तकें हमारे हाथ में आगई हैं उनको ही अध्ययन का प्रधान अवलंब नहीं माना जा सकता। पुस्तकों में लिखी बातों से हम समाज की एक विशेष प्रकार की चिन्ताधारा का परिचय पा सकते हैं। इस कार्य को जो लोग हाथ में लेंगे उनमें प्रचुर कल्पना-शक्ति की आवश्यकता होगी। भारतीय समाज जैसा आज है वैसा ही हमेशा नहीं था। नये-नये जन-समूह इस विशाल देश में आते रहे हैं और अपने विचारों और आचारों का कुछ-न-कुछ प्रभाव छोड़ते गए हैं। पुरानी समाज-व्यवस्था भी सदा एक-सी नहीं रही है। आज जो जातियाँ समाज के सबसे निचले स्तर में विद्यमान हैं, वे सदा वहीं नहीं रहीं, और न वे सभी सदा ऊंचे स्तर में ही रही हैं जो आज ऊंची हैं। इस विराट् जन-समुदाय का सामाजिक जीवन बहुत स्थितिशील है, फिर भी ऐसी धाराएं इसमें एकदम कम नहीं हैं जिन्होंने

उसकी सतह को आलोड़ित-विलोड़ित किया है । एक ऐसा भी जमाना गया है जब इस देश का एक बहुत बड़ा जन-समाज ब्रह्मण-धर्म को नहीं मानता था उसकी अपनी पौराणिक परम्परा थी, अपनी समाज-व्यवस्था थी, अपनी लोक-परलोक भावना भी थी। मुसलमानों के आने से पहले ये जातियाँ हिन्दू नहीं कही जाती थीं—कोई भी जाति तब हिन्दू नहीं कही जाती थी । मुसलमानों ने ही इस देश के रहने वालों को पहले-पहल हिन्दू नाम दिया। किसी अज्ञात समाजिक दबाव के कारण इनमें की बहुत-सी अल्पसंख्यक अपौराणिक मत की जातियाँ या तो हिन्दू होने को बाध्य हुईं या मुसलमान । इस युग की यह एक विशेष घटना है जब प्रत्येक मानव-समूह को किसी-न-किसी बड़े कैम्प में शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। उत्तरी पंजाब से लेकर बंगाल की ढाका कमिश्नरी तक एक अर्द्धचन्द्राकृति भूभाग में जुलाहों को देखकर रिज़ली साहब ने अपनी पुस्तक 'पीपुल्स आफ़ इण्डिया, (पृ० १२६) में लिखा है कि इन्होंने कभी समूहरूप में मुसलमानी धर्म ग्रहण किया था। कबीर, रज्जब आदि महापुरुष इसी वंश के रत्न थे। वस्तुतः ही वे 'ना-हिन्दू-ना मुसलमान' थे। सहजपंथी साहित्य के प्रकाशन ने एक बात को अत्यधिक स्पष्ट कर दिया है। मुसलमान-आगमन के अव्यवहित पूर्वकाल में डोम-हाड़ी या हलखोर आदि जातियाँ काफ़ी सम्पन्न और शक्तिशाली थीं । मैं यह तो नहीं कहता कि ग्यारहवीं शताब्दी के पहले वे ऊँची जातियाँ मानी जाती थीं, पर इतना कह सकता हूँ कि वे शक्तिशाली थीं और दूसरों के मानने-न-मानने की उपेक्षा कर सकती थीं।

निर्गुण-साहित्य के अध्येता को, इन जातियों की लोकोक्तियाँ और क्रिया-कलाप जरूर जानने चाहिएँ । उसे यह नहीं भूलना चाहिए कि इस अध्ययन की सामग्री न तो एक प्रान्त में सीमित है, न एक भाषा में, न एक काल में, न एक जाति में, और न एक सम्प्रदाय में ही । व्यक्तिगत रूप में इस साहित्य के प्रत्येक कवि को अलग समझने से

यह सारा साहित्य अस्पष्ट और अधूरा लगता है, यद्यपि नाना कारणों से कबीर का व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ से एक ओर हिन्दुत्व निकल आता है और दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है दूसरी ओर अशिक्षा, जहाँ एक ओर योग-मार्ग निकल जाता है दूसरी ओर भक्ति-मार्ग, जहाँ से एक तरफ़ निगुण भावना निकल जाती है दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौरस्ते पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में गये हुए मार्गों के दोष-गुण उन्हें स्पष्ट दिखाई दे जाते थे। यह कबीरदास का भगवद्दत्त सौभाग्य था। वे साहित्य को अक्षय प्राणरस से आप्लावित कर सके थे। पर इसी को सब-कुछ मानकर यदि हम चुप बैठ जायं तो इसे भी ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे। आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन ने 'ओझा-अभिनन्दन-ग्रन्थमाला' में एक लेख द्वारा दिखाया है कि मध्ययुग का भक्ति-साहित्य किस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों के साथ सम्बद्ध है।

साहित्य का इतिहास पुस्तकों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रन्थकार और ग्रन्थ उस प्राणधारा की ओर इशारा-भर करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं, मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुज़रती हुई आज हमारे भीतर आम-प्रकाश कर रही है। साहिय के इतिहास से हम अपने-आपको ही पढ़ते हैं, वही हमारे आनन्द का कारण होता है। यह प्राणधारा अपनी परिपार्श्विक अवस्थाओं से विच्छिन्न और स्वतंत्र नहीं है। इसी रूप में हमें भक्ति-साहिय को भी देखना है।

दो : : रस सिद्धान्त और आधुनिक साहित्य

(डाक्टर रामविलास शर्मा)

अपनी नई पुस्तक 'सिद्धान्त और अध्ययन' के बारे में बाबू गुलाब-राय कहते हैं—"मेरे सामने यह समस्या थी कि मैं निबन्धों में अपने वैयक्तिक दृष्टिकोण को महत्ता दूं या शास्त्रीय दृष्टिकोण को। मैंने शास्त्रीय दृष्टिकोण के सहारे ही अपने दृष्टिकोण को व्यक्त करना चाहा है। अपने दृष्टिकोण की सविस्तर व्याख्या कर विद्यार्थियों को अपने पूर्वजों के ज्ञान से वंचित रखना मैंने उचित नहीं समझा है।" इस पुस्तक में उन्होंने शास्त्रीय आधार पर साहित्य की व्याख्या की है और उसकी पुष्टि के लिए जहाँ-तहाँ पच्छिम के वैज्ञानिकों और विचारकों का भी उल्लेख किया है। कई स्थलों पर मालूम होता है कि पुराने पैमाने से नये साहित्य की नाप-जोख करना उनके लिए मुश्किल हो रहा है। फिर भी वह पुराना पैमाना छोड़ने के लिए तैयार नहीं हैं, भले ही उसे काम में लाने के लिए नापी जाने वाली चीज में ही कतर-ब्योंत करने की ज़रूरत क्यों न पड़े।

साहित्य-रत्न और एम० ए० के विद्यार्थियों को रस-निष्पत्ति, साधा-रणीकरण, ध्वनि और उसके भेद आदि विषय पढ़ने पड़ते हैं। बाबूजी

विद्यार्थियों की कठिनाइयों को बहुत अच्छी तरह जानते हैं। सागर में सागर उंडेलने की कला में उनसे बढ़कर दूसरा नहीं है। हिन्दी साहित्य के विशाल इतिहास को उन्होंने कम-से-कम पृष्ठों में यों बांध दिया है कि विद्यार्थी उसे बड़ी सरलता से हृदयंगम कर सकता है। लेकिन इस बात को भी सभी लोग जानते हैं कि वे संकलन-कर्त्ता मात्र नहीं हैं, वे एक महान् कलाकार भी हैं जिनकी प्रतिभा उनके व्यक्तिगत निबंधों में प्रकट हुई है। उनकी आलोचना विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। उनके निबंधों का कलात्मक मूल्य है। यद्यपि बाबू-जी साहित्य में उपयोगितावाद का विरोध करते हैं फिर भी विद्यार्थियों का हित करके अपने आचरण से वह उसी का समर्थन करते हैं। मैं उनके निबन्धों के कलात्मक सौन्दर्य का पक्षपाती हूँ। उनका हास्य और व्यंग्य उनकी आलोचनाओं में भी जहां-तहां खिल उठता है। लेकिन वह शास्त्रीय अध्ययन के बोझ से दबा हुआ है। जैसा कि उन्होंने भूमिका में बताया है, पूर्वजों में श्रद्धा होने के कारण उन्होंने अपनी बात न कह-कर शास्त्रों की बात दुहराना ही ज्यादा अच्छा समझा है।

'काव्य की आत्मा' नाम के पहले अध्याय में उन्होंने अलंकार, वक्रोक्ति, रीति और ध्वनि सम्प्रदायों की व्याख्या करते हुए इसको काव्य की आत्मा बताया है। "साहित्य मुर्दादिलों में नई जान फूंक देता है, इसलिए वह आयुर्वेदिक रस का काम भी करता है। काव्य का सार है, इसलिए वह फलों के रस की भी अभिव्यक्ति है। आनन्द उस का निजी रूप है, इसलिए वह परमार्थ है, स्वयम् प्रकाश्य, चिन्मय, अखण्ड, ब्रह्मानन्द सहोदर है।" रस और मनोविज्ञान के सिलसिले में उन्होंने मैकडूगल, विलियम जेम्स आदि के मत उद्धृत करके प्राचीन आचार्यों का समर्थन किया है। रस-ग्रन्थों में कहे हुए अनुभवों से डार्विन के बताये हुए अनुभवों का मिलान करके वह दावा करते हैं कि

"इस विषय में हमारे आचार्य आधुनिक वैज्ञानिकों के कदम मिलाते हुए चल सकते हैं।" हंसने-रोने का एक-सा वर्णन करने से यह सिद्ध नहीं होता कि प्राचीन आचार्यों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। दोनों की विचार-धारा की मूलभूमि में बड़ा अन्तर है। पच्छिम के आधुनिक विज्ञान का आधार भौतिकवाद है और अनेक भारतीय शास्त्रों का आधार सच्चिदानन्दवाद। बाबूजी ने कई बार इस बात को स्पष्ट कर दिया है कि साधारणीकरण और रस की अखण्डता आनन्द-स्वरूप आत्मा की अखण्डता से ही सिद्ध होते हैं।

रस-निष्पत्ति के बारे में भट्ट, लोल्लट, भट्टनायक, अभिनव गुप्त आदि के मतों का उल्लेख करते हुए वह कहते हैं, "काव्य का रस विभावादि द्वारा उद्बोधित एवं रजोगुण, तमोगुण-विमुक्त, सतोगुण प्रधान आत्मप्रकाश से जगमगाते हुए सहृदय के वासनागत स्थायी भाव का आस्वादजन्य आनन्द है भले ही काव्य का रस आनन्दमय हो, इस व्याख्या को याद करते-करते तो विद्यार्थी का कचूमर निकल जायगा। इसके बाद भी टाइप और व्यक्ति का झगड़ा बाकी रह जाता है। पता नहीं टाइप के लिए संस्कृत के आचार्यों ने किस शब्द का प्रयोग किया है अथवा पच्छिमी आलोचना की इस देन के लिए बाबूजी को कोई दूसरा शब्द नहीं मिला।

साधारणीकरण की व्याख्या करते हुए उन्होंने इस बात को स्वीकार किया है कि पहले के और अब के आदर्शों में काफ़ी अन्तर हो गया है। पहले नायक ऊंचे कुल का राजा या सरदार होता था और अब 'होरी'-जैसा किसान भी उपन्यास का नायक बन जाता है। पहले प्रख्यात नायक इसीलिए रहता था जिससे कि सहृदय पाठकों का सहज में तादात्म्य हो जाय। अब लोगों की मनोवृत्तियां कुछ बदल गई हैं, आभिजात्य का अब उतना मान नहीं रहा है। इसलिए 'होरी' के

सम्बन्ध में पाठकों का सहज में ही तादात्म्य हो जाता है।' मतलब यह कि पहले आत्मा की अखंडता का अनुभव राजाओं और सरदारों की विलासगाथा से होता था और अब किसानों के शोषण की कथा से होता है। लेकिन रस की अखंडता में कोई अन्तर नहीं पड़ा। साधारणीकरण एक ऐसा मन्त्र है जिससे शोषक और शोषित किसी की भी पूजा करने से मनुष्य विश्व-प्रेम तक पहुंच जाता है। बाबूजी कहते हैं—

'शृङ्गार' जो लौकिक अनुभव में विषयानन्द का रूप धारण कर लेता है, काव्य में परिष्कृत हो आत्मानन्द के निकट पहुँच जाता है। काव्यानुशीलन करने वाले की रति सात्विकोन्मुखी हो जाती है।' मुझे एक बार नगेन्द्रजी से एक बहस की याद आती है जिसमें उन्होंने पूछा था कि हिटलर पर बड़ी अच्छी कविता लिखी जाय तो उसे प्रगतिशील कविता माना जायगा कि नहीं। साधारणीकरण से जरूर माना जायगा क्योंकि टाइप और व्यक्ति दोनों खत्म होकर आत्मा की अखंडता में दोनों एक हो जाते हैं। 'सहानुभूतियों के विस्तृत हो जाने के कारण वह (सीधा सादा पाठक) विश्वप्रेम की ओर अग्रसर होने लगता है।' बाबूजी का झुकाव उस सिद्धान्त की ओर है जिसे अब यूरोप में कोई नहीं मानता। यह सिद्धान्त कला कला के लिए वाला सिद्धान्त है। बाबूजी सिर्फ इतना चाहते हैं कि नीति की उपेक्षा न की जाय, लेकिन अगर कोई यह कहे कि सामाजिक विकास के लिए साहित्य रचना होनी चाहिए तो इससे आत्मा की अखण्डता के टुकड़े टुकड़े हो जायंगे।' कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नहीं है और उसका मूल्य आर्थिक या नैतिक मान से निश्चित करना उसके साथ अन्याय करना है। कला से परे और किसी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन-रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास

है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट करके अन्धकारमय गर्त में ढकेलना है।' उनका तर्क यह है कि जब मुर्दों की चीरफाड़ करने वाले डाक्टर और अर्थशास्त्र के पंडित अपने लिए कला की दीक्षा आवश्यक नहीं समझते तो कलाकार ही क्यों अर्थशास्त्रियों के यहां जाकर अपनी मर्यादा कम करें? वास्तव में प्रश्न यह नहीं है कि कला को अर्थशास्त्र बनाया जाय या नहीं, वरन् यह कि कलाकार आर्थिक और सामाजिक समस्याओं पर कलम चलाये या नहीं और अगर चलाये तो किस तरह? कला कितनी भी हवाई हो, वह जीवन के भौतिक दाना-पानी के बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकती। दर्शन, राजनीति, समाजशास्त्र, इन सभी से अगर वह पल्ला बचाकर चलेगी तो जाहिर है कि वह फ़रिश्तों की चीज हो जायगी, दुनिया से इसका कोई नाता नहीं रहेगा। इसलिए कला कला के लिए वाले लोग यह नहीं कह सकते कि वे सामाजिक प्रश्नों से दूर रहेंगे, उनका असली मतलब यह होता है कि सामाजिक प्रश्नों को हल करने में उन्हें समाज-हितों की उपेक्षा करने की पूरी आज़ादी होगी। इस तरह वे अपनी सामाजिक जिम्मेदारी से बचना चाहते हैं और यह भूल जाते हैं कि इस तरह वे अपने कलाकार की जिम्मेदारी को ही खत्म कर देते हैं। कोई भी कलाकार समाज के बारे में गैर जिम्मेदार ढंग से लिखेगा तो इससे उसकी कला में चार चांद नहीं लग जायंगे। एक तरह से उसकी जिम्मेदारी समाजशास्त्री से ज्यादा है। उसके पास रूप, अलंकार और भाषा-सौन्दर्य की वह तलवार है जो समाजशास्त्री की कुन्द छुरी से कहीं ज्यादा काट करती है। उससे यह कहना कि तलवार चलाने की खूबसूरती पहले है, किसका सिर कटता है, यह बाद को, समाज के प्रति अन्याय करना है। मान लीजिए, प्रेमचन्दजी कलाकार होने के नाते जो मन में आता लिखते, 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'गोदान' आदि

में साधारण जनता के संघर्ष की तस्वीर न खींचकर वे किशोरीलाल गोस्वामी की तरह शृङ्गार के सरस उपन्यास लिखते, तो भले ही वे बाबूजी के इस वाक्य को 'शृंगार की रति में एक विशेष तन्मयता रहती है', वे सार्थक करते । लेकिन हिन्दी के कथासाहित्य में क्या उनका दर्जा उतना ही ऊंचा होता जितना कि आज है ? राजनैतिक और सामाजिक प्रश्नों को हल करते हुए हम राजनीति और समाज की जिम्मेदारियों से बच जायं, यह नामुमकिन है ।

कुछ दिन पहले तक पच्छिम की सभी चीजों से हम डरते रहते थे, लेकिन अब कोई मतलब की चीज मिले तो हम खट से यह साबित कर देते हैं कि वह भारतीय ऋषियों के अनुकूल है । उदाहरण के लिए—अगर किसी वैज्ञानिक ने कह दिया कि उसकी धारणा है कि भौतिक विकास के पीछे ईश्वर की एक बुद्धिगत योजना है तो हम कहने लगते हैं कि वेदान्त का सत्य विज्ञान से सिद्ध हो गया । समाजवाद और प्रगतिवाद तो भारतीयता के विरोधी हैं ही, वास्तव में कला कला के अर्थ का शुद्धस्वरूप भारतीय स्वान्तःसुखाय ही में मिलता है । यही नहीं, कला की मूल प्रेरणाओं की खोज कीजिए तो पता चलेगा कि हमारे आचार्य वही बातें कह गये थे जो साइकोऐनैलिसिस (Psycho-analysis) के आचार्य यूरोप में कहते रहे हैं । 'युंग की विचार-धारा क्या है जिसका भारतीयता से ऐसा घनिष्ठ नाता है ? उसके अनुसार मनुष्य में दो भावनाएं प्रधान होती हैं, एक प्रभुत्व-कामना, दूसरी काम-वासना । इस हिसाब से मनुष्य के दो टाइप हुए, एक अन्तर्मुखी, दूसरा बहिर्मुखी, पहले वाले में कामवासना की मुख्यता रहती है और दूसरे में प्रभुत्वकामना की । बाबूजी कहते हैं कि उपनिषदों में आत्मप्रेम को सब क्रियाओं का मूलकारण माना गया है । "काम-वासना और प्रभुत्व-कामना दोनों ही आत्म-प्रेम के नीचे

रूप हैं। दोनों में ही आत्मरक्षा की भावना ओत-प्रोत है। कमा-वासना भी एक प्रकार की प्रभुत्व-कामना है और प्रभुत्व-कामना काम-वासना का बदला हुआ आत्मप्रकाशोन्मुखरूप है।" इस प्रकार फ्रायड और युंग का समन्वय उपनिषदों में हो जाता है। मनोविश्लेषण वाले वैज्ञानिक और उनके अनुयायी इस बात पर जोर नहीं देते कि मनुष्य की चेतना विकासमान है, उसका विकास वातावरण और परिस्थितियों के सहारे होता है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी भी है जो मिलजुलकर रहना चाहता है; इसलिए कोई भी साहित्य और कोई भी मनोविज्ञान अधूरा ही नहीं निकम्मा भी होगा जिसकी बुनियाद में मनुष्य के सामाजिक प्राणी होने का सत्य न होगा। ये वैज्ञानिक अपने विज्ञान का प्रकाश आत्मा की स्लाइड (slide) पर डालते हैं मानो चेतन और गतिशील न होकर वह कांच के टुकड़े पर जमा हुआ खून का धब्बा हो। इसीलिए इनके समर्थक एक तरफ प्रभुत्व-कामना और काम-वासना को जीवन की मूलप्रेरणा भी मान लेते हैं और दूसरी तरफ साहित्य में साधारणीकरण द्वारा "आत्मा के अखंड चिन्मय आनन्दमय रूप की स्वानुभूति" भी कर लेते हैं। इसीलिए इनके विचार से कोई कलाकार ज़िन्दगी से मुंह चुराकर कल्पनिक स्वर्ग रचे, तो भी उसे बुरा नहीं कहा जा सकता। बाबूजी ने एक "स्वस्थ पलायनवाद" का ज़िक्र किया है जिससे जीवन में शक्ति मिलती है, इसलिए कहना चाहिए कि पलायनवादी भी एक तरह से प्रगति का समर्थक होता है। इसी तरह भक्ति पर वासना की चाशनी चढ़ाई जाती है और शृङ्गार पर भक्ति की। बाबूजी कहते हैं—"कवि फ्रायड के स्वप्न-द्रष्टा की भांति किसी अंशों में प्रतीकों से भी काम लेता है। कभी काम-वासना पर भक्ति का आवरण डाल दिया जाता है और कभी-कभी कविगण ज्ञान और भक्ति पर वासना का शर्करावेष्ठन चढ़ाकर उसको अधिक ग्राह्य बना देते हैं। शायद भक्त लोग अपनी भक्ति पर वासना का

शक्कर न चढ़ाएं या शृंगारी कवि भक्ति की रामनामी न ओढ़ें तो वे कलाकार न कहलाएं।

साहित्य विकासमान है और वह एक महान् सामाजिक क्रिया है, इसका सबसे बड़ा सबूत यह है कि प्राचीन आचार्यों ने भविष्य देख-कर जो सिद्धान्त बनाए थे, वे आज नये साहित्य पर पूरी-पूरी तरह लागू नहीं किये जा सकते। उन्हें लागू करने से या तो पैमाना टूट जायगा या फिर अपने ही पैरों को थोड़ा तराशना पड़ेगा। काव्य के नौ रसों से नये साहित्य की परख नहीं हो सकती। परखने की कोशिश की जायगी तो उसका जो नतीजा होगा, वह नीचे के वाक्यों से देख लीजिए—

'यदि किसी उपन्यास में किसी कुप्रथा की बुराई है तो वह वीभत्स-प्रधान माना जायगा।

'जो बुराई शोषक के कारण शोषित में आती है, वह करुणा का ही विषय होती है।

'आजकल के उपन्यासों में यह निर्धारित करना कठिन हो जाता है कि उनमें कौनसा रस प्रधान है; किन्तु रस की दृष्टि से उनका विश्लेषण किया जा सकता है।

'(सेवा-सदन में) हिन्दू-समाज में वेश्याओं के प्रति आदर भावना है, वह वीभत्स का उदाहरण है।

'गबन का मूल उद्देश्य है—स्त्रियों के आभूषण प्रेम तथा पुरुषों के वैभव-प्रदर्शन का दुष्परिणाम और पत्नी का पतिव्रतप्रेरित नैतिक साहस और सुधार-भावना का उद्घाटन करना। रस की दृष्टि से हम इसको शृङ्गाररसाभास से सच्चे शृङ्गार की ओर अग्रसर होना कहेंगे।

'कुछ उक्तियां राजनीति से सम्बन्धित होने के कारण वीर रस

की कही जायंगी।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नये साहित्य पर पुराने सिद्धान्त लागू करने में काफ़ी कठिनाई होती है और इस कठिनाई का सामना करने पर भी साहित्य के समझने में कितनी मदद मिलती है, यह एक सन्देह की ही बात रह जाती है। जीवन की धाराएं एक दूसरे से इतनी मिली-जुली हैं कि नौ रसों की मेड़ बांधकर उन्हें अपने मन के मुताबिक नहीं बहाया जा सकता। प्रेमचन्द के साहित्य ने यह सिद्ध कर दिया है कि इस नये साहित्य को परखने के लिए युग के अनुकूल नये सिद्धान्त ढूंढने होंगे।

अपनी किताब के आखिरी पन्ने पर बाबूजी ने मार्क्स और वर्ग-संघर्ष का भी ज़िक्र किया है।

'उनका कहना है कि वर्ग-संघर्ष एक बुरी चीज़ है। लेकिन प्रगति-वादी उसे अपना ध्येय बना लेते हैं।' निरन्तर वर्ग-संघर्ष करते रहना किसी का ध्येय नहीं है, लेकिन वर्गहीन समाज की रचना वर्ग-संघर्ष से मुंह चुराने से नहीं हो सकती। बाबूजी चाहते हैं कि हम ऐसे समाज में रहें, जहां सब से अधिक पारस्परिक सहयोग हो। यह सह-योग तब तक संभव न होगा जब तक समाज से वर्गशोषण न मिटेगा। इसलिए साहित्य के सामने यह समस्या नहीं है कि रस नौ होते हैं या इससे ज्यादा और गबन में शृङ्गार है या रसाभास। इन संचारी-व्यभि-चारी भावों को रटा-रटाकर हम अपने विद्यार्थियों को साहित्य की प्रगति से दूर रखने का विफल प्रयास कर रहे हैं। साहित्यकार सामा-जिक उत्तरदायित्व को भूलकर अगर आत्मा की अखण्डता और रस के स्वयं प्रकाश अलौकिक ब्रह्मानन्द सहोदर होने की बातें दोहराता रहेगा, तो वह वर्गहीन समाज के निर्माण में सहायक न हो सकेगा। इसका यह मतलबनहींहै निकालाबू-यदियबा ज कि जिदगी से रस को हैं।

जी की जिन्दादिली की दाद दिये बिना नहीं रहा जाता, जब वह सूरदास के लिए कहते हैं—'उन्होंने रति की आरम्भिक अवस्था का बहुत ही मनोरम वर्णन किया है।'

तीन : : साहित्य की नई दिशा

(प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त)

प्रत्येक युग के साहित्य में अपना कुछ नया होता है। उसके रूप-रंग, प्राण और आदर्श नई परिस्थिति के सांचे में ढलकर प्राचीन से सर्वथा भिन्न होते हैं। आज का साहित्य पुराने साहित्य की परम्परा से शृंखला-बद्ध है, किन्तु वह साहित्य की एक नवीन कड़ी है। उसके आदर्श, रूप रेखा, अन्तर्प्रेरणा पुरातन से भिन्न हैं। समाज की सर्वथा नवीन परिस्थतियों में उसका जन्म हुआ है, अतएव उसकी प्रतिक्रिया भी भिन्न है। "महाभारत," "शकुन्तला," "कादम्बरी," "रामचरित मानस" आदि के साथ "पल्लव", "ग्राम्या", "प्रेमाश्रम" और "शेखर" साहित्य की परिभाषा में आते हैं; भारतीय साहित्य-साधना का ही वह एक अङ्ग है। किन्तु इस साधना के वह दो छोर एक दूसरे से बंधे होकर भी कितने दूर हैं! जीवन के प्रति उनकी दृष्टि कितनी बदल चुकी है!

जातियों का परस्पर संघर्ष, सतत संग्राम आदि काव्य का विषय है। आर्यों की दिग्विजय, पुरानी संस्कृतियों की पराजय और नवीन के साथ समन्वय हम प्राचीन काव्य-ग्रन्थों में प्रतिबिंबित देखेंगे। कृषि युग की समृद्धि, धन-धान्य का गौरव, प्रकृति की पूजा, जीवन के प्रति अपार उत्साह और उमंग पुराने साहित्य में हम पायेंगे। साम्राज्यों का विस्तार

राजसी विलास, वैभव, लीला, हाव-भाव साहित्य के अगले चरण में हमें मिलते हैं। सामन्तों का द्वेष-कलह, साम्राज्यों का पतन, दूषित सामाजिक व्यवस्था, आदर्शों का ह्रास उत्तर-मध्य कालीन साहित्य में हम देखते हैं। नव-जागरण, जीवन में नया विश्वास, नया प्राण-बल आधुनिक भारतीय साहित्य में हम पाते हैं। "रासो" "रामचरित मानस" "रसराज" और "भारत-भारती" हिन्दी की साहित्यिक यात्रा के भिन्न चरण हैं।

आधुनिक साहित्य नई सामाजिक व्यवस्था की उपज है। सामन्ती अव्यवस्था टूटने पर समाज फिर से अपनी शक्ति बटोर कर आगे क़दम बढ़ाता है। शेक्सपियर से लेकर टी० एस० इलियट और भारतेन्दु से पन्त तक के कवि इस वर्गीकरण में आते हैं। इनमें भी परस्पर महान् अन्तर है, किन्तु व्यक्ति पर कसे सामन्ती बंधन इस नई कला में टूट चुके हैं। आधुनिक साहित्य स्वाधीन व्यक्ति का साहित्य है। कम-से-कम उसकी कल्पना यही है, क्योंकि वास्तविक स्वाधीनता पूँजीवादी समाज में भी व्यक्ति को नहीं मिलती।

पूँजीवादी समाज-व्यवस्था भी आज संसार में टूट रही है। अपनी रक्षा के लिए उसे फ़ासिज़्म-जैसे बर्बर साधनों का प्रयोग करना पड़ता है। नित्य नए आर्थिक संकट उसके साथ लगे रहते हैं। निरन्तर उसका रूप अधिकाधिक क्रूर और हिंसक होता जाता है। महायुद्ध उसकी स्वाभाविक ख़ुराक़ बन जाते हैं।

इस ह्रास के लक्षण साहित्य में भी प्रगट होते हैं। कलाकार इस विषमय वायु मण्डल में कुण्ठित होता है। उसके गीत रुद्ध कण्ठ में अटकने लगते हैं। कला में एक नई निराशा और पराजय का भाव भर जाता है।

पिछले महासमर के बाद यूरोपीय साहित्य में भारी उथल-पुथल हुई। कला के पुराने साँचे टूटने लगे और एक नई विरूप, विकृत

कला का वहाँ जन्म हुआ। विकृति के प्रति एक प्रकार का मोह उन्नीसवीं सदी के अन्त में ही शुरू हो गया था। कलाकार अभिव्यक्ति के साधनों की ओर उदासीन हो गया। उसे मानो यह चिन्ता ही न रही कि उसकी कला का अर्थ भी कोई समझे। वह कहने लगा कि कला का ध्येय आदान प्रदान नहीं, केवल आत्माभिव्यक्ति है। इस उदासीनता के पीछे गहरे आर्थिक संकट और भग्न-प्रायः समाज-व्यवस्था का कटु अनुभव था। टी० एस० इलियट के काव्य, जेम्स जॉयस के कथा-साहित्य अथवा एप्सटाइन की मूर्ति कला के पीछे यही अनासक्ति का भाव है।

नई कला जीवन के प्रति उदासीन तो है ही, उसने बाह्य रूप-प्रकारों के प्रति भी वैराग्य लिया है। नए काव्य में संगीत भग्न और खंडित है, उपमाएं खींच-तान से भरी मटमैली और धूलि-धूसरित हैं। नई कला सौन्दर्य और रूप विलास की उपेक्षा करती है। टी० एस० इलियट कहते हैं :

"शाम सर्जन की मेज़ पर 'ईथर' में डूबे, मूर्छा-मग्न रोगी के समान है।"

ऐडिथ सिटवैल लिखती हैं :

"सारस के समान लंबी जेन,

सुबह की रोशनी ज़ीने की सीढ़ियों पर चर-मर करती उतर रही है।"

बाह्य जग के प्रति उदासीनता का कारण मनोविश्लेषण की नई प्रवृत्तियाँ भी बताई जाती हैं। जीवन की प्रेरणा मनुष्य के मनोविकारों में खोजी जाती है। अन्तर्मन की दुनिया निरन्तर एक विचित्र खल-बली में डूबी रहती है; उसी का निरूपण नई कला करना चाहती है। अरूप को रूप देने का साहस नये कलाकार ने किया।

नये कलाकार ने बाह्य संसार की अशान्ति से परेशान होकर अन्तर्मन की अशांति अपनाई। इस अन्तर्तम के क्षुब्ध सागर को वह

जीवन का चरम सनातन सत्य मानने लगा। समाज बनते-बिगड़ते हैं, किन्तु इस अन्ध-गुहा का प्राणी पत्तियों से अलंकृत, गदा के समान हड्डी घुमाता आदिम मानव, कभी नहीं बदलता। इस प्रकार अन्तर्मन के व्यापारों में उलझा कलाकार जीवन में विश्वास खो देता है। विकास और प्रगति के नियमों का वह उपहास करने लगता है।

वास्तव में बाह्य जगत् का प्रतिबिम्ब ही मनुष्य के मन पर पड़ता है। क्रमशः यह परछाँई उपचेतन की तहों को पार कर वहाँ बैठ जाती हैं। नया जीवन मनुष्य की मानसिक विकृतियों को दूर करके स्वस्थ कला का धरातल तैयार करेगा। समाजिक विकास में जिस कलाकार की अवस्था है, वह "जग बदलेगा किन्तु न जीवन" आदि पराजय की भावना से पूर्ण पंक्तियाँ न लिखेगा।

हिन्दी साहित्य पर मनोविश्लेषण का गहरा प्रभाव पड़ा है। इस विचार-धारा के लेखक छायावाद के उत्तराधिकारी हैं और भारतीय निराशा और पराजयवाद के प्रतिनिधि—

भारतेन्दु युग और द्विवेदी युग में भारतीय राष्ट्र की शक्ति बढ़ रही थी। पूरे समाज में एक नई जाग्रत और उमंग थी। इसलिए प्राण बल को साहित्य में भी स्वर मिला और हमारा साहित्य नई सृजन-प्रेरणा से आकुल हो उठा। छायावाद आधुनिक हिन्दी साहित्य का प्रौढ़ स्वरूप है। नये जीवन की इसमें उमंग है, किन्तु अनेक सन्देह भी भविष्य के सम्बन्ध में कलाकार के मन में उत्पन्न होने लगे हैं। विश्व-भर में पूँजीवादी संस्कृति टूट रही थी और उसके टूटते कगारों की प्रतिध्वनि तट पर खड़े भी सुन रहे थे। पहले महासमर के बाद यूरोपीय कला एक विचित्र हताश भाव और अविश्वास से भर गई।

सन् ३० के बाद निराशा के बादल भारतीय आकाश पर भी रहे, यद्यपि पिछले कई वर्षों से वे घिर रहे थे। भारतीय कलाकार अपने लिए किसी उज्ज्वल भविष्य की कल्पना न कर सकता था। चतुर्दिक घना कोहासा था, हाथ मारे न सूझता था। सन् १६१८ के बाद जो

भावना यूरोपिय साहित्य में है, वही छायावाद के उत्तरार्द्ध में हमें मिलती है; निराशा का गहन अन्धकार दूर कहीं पर वायु-विकम्पित दीप शिखा, काँपते पैरों से उसकी खोज। इस भूमि पर मनोविश्लेषण का साहित्य खूब पनपता है।

हिन्दी के अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार इस प्रवृत्ति की ओर झुके। श्री इलाचन्द्र जोशी के उपन्यास, 'अज्ञेय' का शेखर, नरोत्तमप्रसाद नागर का "दिन के तारे" "पहाड़ी' की कहानियाँ, कविता में "तार सप्तक" जैसे नवीन प्रयोग, इस धारा के अनुगामी हैं। इन लेखकों की अन्तर्मुखी दृष्टि मन के पर्दों को बेधकर देखना चाहती है। मानो जीवन का सभी अलक्ष्य सत्य अन्तर्मन की अन्ध गुहाओं में छिपा पड़ा हो।

कविता में नए प्रयोग पुराने साँचे तोड़कर नये बनाना चाहते हैं। पुरानी ध्वनियाँ, संगीत, चित्र सभी कुछ पीछे छुट जाता है। एक भग्न, कुण्ठित, संगीत इन प्रयोगशील कवियों की रचनाओं में हम पाते हैं। 'मानव' जी की इन पंक्तियों को देखिए:—

जब मेरा जन्म हुआ
रहते
घर में हम एक किराए के।
गृह के स्वामी थे धनी बड़े
सज्जन अनुपम
उनके था कोई पुत्र नहीं
उनकी पत्नी
करती थीं मुझको बहुत प्यार।..."

["निराधार"]

अथवा, "तार-सप्तक" से गिरजाकुमार जी की इन पंक्तियों को:—

"कुछ सुनसान दिनों को,
और चाँदनी से ठण्डी-ठण्डी रातों को,
पत्रों की दुनिया से हम दूर हुए थे

भविष्य उज्ज्वल है। उनकी दृष्टि बाहरी दुनिया पर लगी थी; वह देख रहे थे कि समाज की विकासोन्मुख शक्तियाँ भयंकर संघर्ष में लगी थीं और उनकी विजय निश्चित थी।

आज के साहित्य के पीछे यह दो प्रेरणाएं हैं: फ्रायड की अनुगामिनी अन्तर्मुखी अथवा व्यक्तिवादी प्रेरणा और बहिर्मुखी समाजवादी प्रेरणा। उपन्यास, काव्य, आलोचना, अधिकतर साहित्य में हम इन दो प्रवृत्तियों का संघर्ष देख सकते हैं। छायावाद का उत्तराधिकार इन दो भागों में बंट रहा है।

छायावादी आलोचक नगेन्द्र जी दबी काम-वृत्तियों को साहित्य की सृजन-प्रेरणा मानने लगे हैं। प्रगतिवादी कवि नरेन्द्र शर्मा और डा० रामविलास शर्मा समाजवाद को अपना जीवन-दर्शन मानते हैं। मनोविश्लेषण से प्रभावित साहित्य पराजय की भावना से भरा है, क्योंकि वह व्यक्तिवादी और अन्तर्मुखी है, 'जन-गण' के संघर्ष से दूर है। कला के रूप—प्रकारों को नष्ट-भ्रष्ट करके वह अनियामकता का प्रचार करता है। समाजवादी साहित्य कला के रूप—प्रकारों की रक्षा करता है, आदान प्रदान में आस्था रखता है और नव—आशा और उमंग से ओत—प्रोत है। जनता के कला—रूपों को वह अपनाता है, क्योंकि उनके माध्यम से वह जनसाधारण के हृदय तक पहुंच सकता है। हिन्दी में जन—गीतों की नई शैली इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है।

हिन्दी का समाजवादी साहित्य प्रेमचन्द और पंत से संबंधित है। प्रेमचन्द और पंत की साहित्यिक चेतना नितान्त भारतीय है और देश की परम्परागत साहित्य-साधना का एक छोर है। हमारी साहित्यिक परम्परा को वह विकास के नये रास्ते पर ले जाते हैं; जनसाधारण का स्वर वह साहित्य में भरना चाहते हैं। "प्रेमाश्रम" अथवा "ग्राम्या" के प्राण-बल का यही रहस्य है। "पल्लव" और "गुञ्जन" की कला "ग्राम्या" में 'जन-जन' के कितनी समीप आ गई है।

"अंधकार की गुहा सरीखी, उन आँखों से डरता है मन।
भरा दूर तक उनमें दारुण, दैन्य दुःख का नीरव रोदन।
अह, अथाह नैराश्य, विवशता का, उनमें भीषण सूनापन।
मानव के पाशव पीड़न का, देतीं वे निर्मम विज्ञापन।
फूट रहा उनसे गहरा आतंक, क्षोभ, शोषण, संशय, भ्रम।
डूब कालिमा में उनकी, कँपता मन, उनमें मरघट का तम।
ग्रस लेती दर्शक को वह, दुर्ज्ञेय, दया की भूखी चितवन।
झूल रहा उस छाया-पट में, युग-युग का जर्जर जन-जीवन!"

['वे आँखें"]

समाजवादी विचारधारा के प्रभाव में हिन्दी के अनेक तरुण प्रतिभावान लेखक : आए हैं शिवदानसिंह चौहान, रामविलास शर्मा, नरेन्द्र, 'अंचल', 'सुमन', चन्द्रकिरण, रांगेय राघव आदि। यह लेखक सामाजिक यथार्थ से मुँह नहीं मोड़ते। "प्रेत और छाया" के समान उपचेतन के अन्ध गह्वर में वह नहीं गिरते। जीवन के कठोर सत्य का वह सामना करते हैं और साहित्य को नई गति और दिशा देते हैं।

इन लेखकों ने अपने सामाजिक दायित्व का साहस से निर्वाह किया है। जन-आन्दोलनों से उन्होंने संबंध स्थापित किया है—जनता तक पहुँचने के लिए उन्होंने जन-गीतों को एक नई शैली और भाषा गढ़ी। वर्तमान संकट से निकलने का मार्ग उन्होंने हिन्दी के पाठकों को सुझाया, राष्ट्रीय आन्दोलन के सर्वोच्च आदर्श को उन्होंने जनता में लोक-प्रिय बनाने का प्रयत्न किया। साम्राज्यवाद और फ़ासिज्म का विरोध उन्होंने अपनी कला के माध्यम से किया और दमन का आतंक सहा। बंगाल के अन्न-संकट में उन्होंने सक्रिय भाग लेकर जनता की सेवा की।

हमारी साहित्य-साधना का यह स्वाभाविक विकास-क्रम है। साहित्य की नवीन दृष्टि पन्त जी की निम्नलिखित पंक्तियों में व्यक्त हुई है:—

"आज सत्य; शिव, सुन्दर करता नहीं हृदय आकर्षित,
सभ्य, शिष्ट और संस्कृत लगते मन को केवल कुत्सित।
संस्कृत, कला, सदाचारों से भव-मानवता पीड़ित,
स्वर्ण-पींजड़े में है बंदी मानव आत्मा निश्चित।
आज असुन्दर लगते सुन्दर प्रिय पीड़ित, शोषित जन,
जीवन के दैन्यों से जर्जर मानव-मुख हरता मन।
मूढ़, असभ्य, उपेक्षित, दूषित ही भू के उपकारक,
धार्मिक, उपदेशक, पंडित, दानी हैं लोक-प्रतारक।
"धर्म, नीति औ सदाचार का मूल्यांकन है जन-हित,
सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण-संबधित।
आज सत्य, शिव, सुन्दर केवल वर्गों में है सीमित,
ऊर्ध्वमूल संस्कृति का होना अधोमूल है निश्चित।"

"युगवाणी", 'मूल्यांकन'

यह वाणी साहित्य में विद्रोह की वाणी है। जर्जर, गलित समाज को यह क्रान्ति की चेतावनी है। जब पुराना नष्ट-प्राय: समाज नवीन के गर्भ से बोझिल हो उठता है, तब यह वाणी साहित्य में उठती है। इसी प्रकार मध्य-काल में कबीर की बानी सामयिक पंडों के प्रति उग्र होकर उठी थी।

"संतो पाँडे निपुन कसाई।
कहै 'कबीर' सुनो हो संतो कलि माँ ब्राह्मण खोटे।
फूटी आँख विवेक की लखे न संत असन्त;
जाके संग दस-बीस हैं, ताको नाम महंत।"

अथवा,

"कनवा फराय जोगी जटवा बढ़ौलै दाढ़ी बढ़ाय जोगी होई
गैलै बकरा।
जंगल जाय जोगी धुनियाँ रमौलै काम जराय जोगी बनि
गैलै हिजरा।"

इसी प्रकार हिन्दी का युवा कवि सामाजिक अन्याय और कुरूपता को नवयुग की गंगा में बहाकर साफ कर देना चाहता है। अपने क्षोभ में वह सभी कुछ प्राचीन डुबा देना चाहता है :

"युग की गंगा
पाषाणों पर दौड़ेगी ही ;
लम्बी ऊंची, पथ को रोके चट्टानों को तोड़ेगा ही !
"युग की गंगा
सब प्राचीन डुबायेगी ही;
नई बस्तियां, नये निकेतन, नव संसार बसायेगी ही !
"युग की गंगा
अधकार को भेदेगी ही
गुहा-गर्त्त से जाकर आगे, सूर्योदय से खेलेगी ही !
"युग को गंगा
सूखी खेती सींचेगी ही,
भूखी, प्यासी, दुर्बल, निर्बल, धरती को हरियायेगी ही !...."

चार : : प्रेमचन्द और परवर्त्ती हिन्दी-उपन्यास

(श्री स० ही० वात्स्यायन)

जयन्तियों के समय विरुद गाने और प्रशंसा के पुल बाँधने की प्रथा है, जिनके नीचे से वर्ष-भर की उपेक्षा और उदासीनता की नदी निर्बाध बहती चली जाय। प्रेमचन्द जी के निधन को भी आज दस वर्ष हो चुके हैं, और आज उनके यशः शरीर की वर्णना कोई माने नहीं रखती। न हम पहले कही हुई बातों की बार-बार आवृत्ति करके उसकी कान्ति ही हठा सकते हैं। प्रेमचन्द जी की कीर्त्ति-रक्षा का श्रेष्ठ उपाय यह हो सकता है कि जिस माध्यम से उन्होंने अपनी प्रतिभा और अपनी साधना के फलों को हमारे सामने रखा, उस माध्यम को उत्तरोत्तर हम विकसित करें और उसी माध्यम से हमें जो कुछ मिलता है या मिल रहा है, उसे निरन्तर प्रेमचन्द की रचना की कसौटी पर रखते चलें।

आजकल के विदेशी साहित्य के पढ़ने वाले हिन्दुस्तानी पाठक आसानी से कह दे सकते हैं कि प्रेमचन्द महान् उपन्यासकार नहीं हैं, और इस कथन की पुष्टि के लिए प्रेमचन्द के समकालीन और परवर्त्ती विदेशी उपन्यासकारों के नाम गिना सकते हैं। और कहानी के क्षेत्र में तो कुछ लोगों ने हिन्दी में ही ऐसे दस-दस लेखकों की सूची बनाई है, 'जो प्रेमचन्द जी से कम-से-कम दस वर्ष आगे हैं!' इस तरह की

तुलना करने वाले अपने अज्ञान अथवा अहंकार का ही प्रदर्शन करते हैं; जिन साहित्यकारों की तुलना की जाती है, उनमें से किसी का भी हित-साधन नहीं करते—न तो प्रमाण-पत्र का, न प्रमेय का। किसी भी साहित्यिक कृति की समीक्षा करते समय सबसे पहले उसे अपने साहित्य और समाज की परिधि में देखना चाहिए। जड़ों के बिना पत्ता नहीं होता और पौधे की पत्तियाँ देखकर हम उस ज़मीन का गुण-दोष देख सकते हैं, जिसमें कि वह पौधा उत्पन्न हुआ। इस दृष्टि से देखें तो हम जान सकते हैं कि प्रेमचन्द का आविर्भाव हिन्दी-साहित्य के लिए कितनी बड़ी घटना है। प्रेमचन्द से पहले का हिन्दी-आख्यान-साहित्य आख्यान तो है; लेकिन आज जिसे अँगरेज़ी में 'फिक्शन' कहते हैं, वह नहीं है। प्रेमचन्द हिन्दी के पहले आधुनिक आख्यान-लेखक हैं। 'आधुनिक' इस अर्थ में कि उन्हें आधुनिकता का, सम-कालीनता का, अपने समवर्त्ती समाज-जीवन की अन्तः शक्तियों का जीवित बोध है। निःसन्देह राष्ट्रीयता की चेतना हिन्दी में उससे पहले भी थी और बँगला में तो थी ही। लेकिन राष्ट्रीय भावना सामाजिक चेतना का केवल एक अंग है। प्रेमचन्द के उपन्यासों में राष्ट्रीय चेतना है, लेकिन मैं उससे बड़ी चीज़ की बात कह रहा हूँ। ऐय्यारी, तिलिस्मी और मालिनों-भटियारिनों के किस्सों से 'सेवा सदन' कितनी बड़ी मंज़िल है, इस पर थोड़ी देर विचार करने से प्रेमचन्द की देन पर चकित हो जाना पड़ेगा।

यह भी प्रेमचन्द की समकालीनता का केवल ऐतिहासिक पहलू है। कहा जा सकता है कि ऐतिहासिक दृष्टि से तो प्रेमचन्द जी का महत्व है; लेकिन इतिहास जीवित सत्य नहीं है; वह अतीत का सत्य है। और प्रेमचन्द का साहित्य हमारी साहित्य-परम्परा में स्थान तो रखता है; लेकिन वह पिछड़ा हुआ स्थान है, क्योंकि आज हम उससे आगे निकल आए हैं। यदि वास्तव में ऐसा होता, तो बड़े सन्तोष की

बात होती। क्योंकि ऐसा होने से प्रेमचन्द का महत्व तो किसी तरह कम नहीं होता और साथ ही हम अपनी प्रगति पर गर्व भी कर सकते। कालिदास या श्री हर्ष पुराने हैं। आज कोई उनके ढंग की चीज़ लिखे, तो इसे कालविपर्यय ही मानना होगा। फिर भी यह कहने का साहस कौन कर सकता है कि कालिदास या श्रीहर्ष के साहित्य का आज महत्व नहीं रहा ? किन्तु प्रेमचन्द के उपन्यासों से परवर्त्ती उपन्यास-साहित्य की तुलना करने पर क्या यह दावा किया जा सकता है कि परवर्त्ती साहित्य सचमुच प्रेमचन्द के साहित्य से बहुत आगे है ? मेरी अपनी धारणा है कि यह एक अन्वेषणीय प्रश्न है, और इसका अध्ययन बहुत उपयोगी होगा। मैं समझता हूँ कि उसके बाद अगर कोई ऐसा दावा करेगा भी, तो संकोच के साथ और बहुत-सी शर्तों और मर्यादाओं से वेष्टित करके।

असल में परवर्त्ती युग में टेकनीक का महत्व बहुत बढ़ गया है और टेकनीक की चकाचौंध के कारण ही हम आज की कृतियों को वह महत्व देने लगे थे, जिसके वे वास्तव में पात्र नहीं हैं और जो भविष्य उन्हें नहीं देगा। दूसरी ओर यथार्थवाद के नाम पर प्रगतिवादी आन्दोलन ने जहाँ साहित्यकार की दृष्टि को एक नई दिशा में मोड़ा है, वहाँ एक दूसरे परिदृश्य से उसे हटा भी दिया है। अंगरेज़ी में कहावत है कि 'पेड़ों के कारण जंगल नहीं दीखता।' इसी बात को यों कहना कि 'जंगल के कारण पेड़ नहीं दीखते', किसी नए सत्य का आविष्कार करना नहीं है, केवल बल (एम्फ़ेसिस) को परिवर्त्तित कर देना है। सामंतकालीन साहित्य में अगर उच्च वर्ग के पात्रों का ही यथार्थ वर्णन होता था और इतर लोग केवल एक परिपाटी के ढाँचे में ढली हुई छायाएं-मात्र, तो आज की साहित्य-दृष्टि भी कम संकुचित नहीं है, अगर उसने भुलुआ धोबी और मनुवा चमार को व्यक्ति-चरित्र देकर भद्र और उच्चवर्गीय व्यक्तियों को पुतले बना दिया है। यह दोष

किसी हद तक प्रेमचन्द के साहित्य में भी है कि उसके उच्चवर्गीय पात्रों का चित्रण सतही और अविश्वास्य है। किन्तु प्रेमचन्द में यह दोष अनुभव की सीमा का दोष है, संकुचित सहानुभूति--उदारता की कमी—या इच्छा से उत्पन्न होने वाला नहीं। इसके प्रतिकूल अधिकांश प्रगतिवादी साहित्य जीवन को इच्छापूर्वक संकुचित दृष्टि से देखता है। उसका 'यथार्थ' एक खंडित यथार्थ है जिसको वह खंडशः ही देखना चाहता है; क्योंकि वह कुछ खंडों की अनदेखी करना चाहता है, जो कि उसके सैद्धांतिक ढाँचे में ठीक नहीं बैठते। जीवन को 'अविचल दृष्टि से और सम्पूर्ण' देखना—"टु सी लाइफ़ स्टेडिली एण्ड टु सी इट होल"—न उससे बन पड़ा है, न उसने चाहा है। प्रेमचन्द का दृष्टिकोण मानववादी था। समाज के वर्ग-विभाजन को और उससे उत्पन्न होने वाले उत्पीड़न और शोषण को वह नहीं देखता हो, ऐसा नहीं था। किन्तु इस बात की वह अनदेखी नहीं कर सकता था, न करना चाहता था, कि जन्म, कर्म या घटना-चक्र से किसी वर्ग के हितों से संबद्ध हो जाना सामाजिक जीवन की एक घटना अथवा वास्तविकता है; किन्तु मानव होना उसके जीवन की ही बुनियादी वास्तविकता है और उसी बुनियादी वास्तविकता के नाते मानव-मात्र सहानुभूति का पात्र है। कह सकते हैं कि प्रेमचन्द सामाजिक आदर्श-वादी थे। आज के युग में किसी को आदर्शवादी कहना एक प्रकार की गाली ही है और 'प्रेमाश्रम' के आदर्श-समाज का हवाला देकर प्रेमचन्द के आदर्शवाद को काल्पनिक और असार बताया जा ही सकता है। मैं यह कहना चाहता हूँ कि उपन्यासकार की समाज-परिकल्पना की अपर्याप्तता से ही यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि उसके आदर्श में प्राणशक्ति नहीं है या कि उसके आदर्शवाद में रचनात्मक सम्भावनाएँ बिलकुल नहीं हैं। बल्कि मैं समझता हूँ कि परवर्त्ती उपन्यास की अपेक्षा प्रेमचन्द के उपन्यासों में रचनात्मक प्रभाव की सम्भावना अधिक है; क्योंकि प्रेमचन्द का आदर्शवाद मानवता में आसक्ति

रखता है और वह आसक्ति रचनात्मक प्रणालियों में बाँधी जा सकती है।

यहाँ पर मैं समझता हूँ कि इन साधारण और व्यापक प्रतिपत्तियों का स्पष्टीकरण करने के लिए परवर्त्ती उपन्यास-साहित्य से कुछ उदाहरण देना उचित होगा। प्रेमचन्द के बाद के सब उपन्यासों की पड़ताल यहाँ न तो आवश्यक है और न सम्भव ही। मैं कुछ चुने हुए उपन्यास ही ले लेता हूँ: भगवतीचरण वर्मा का 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते', उपेन्द्रनाथ 'अश्क' का 'गिरती दीवारें', इलाचन्द जोशी का 'निर्वासित', यशपाल का 'देशद्रोही', रांगेय राघव का 'घरौंदे', रामचन्द्र तिवारी का 'सागर, सरिता और अकाल' तथा अमृतलाल नागर का 'महाकाल' मेरे सामने हैं। इससे यह न समझा जाय कि मैं परवर्त्ती उपन्यासों में केवल इन्हीं को महत्त्व देता हूँ। उल्लेखनीय उपन्यास और भी हैं; लेकिन ऐतिहासिक उपन्यास या अतीत के युग-चित्र यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं। समकालीन सामाजिक वस्तु वाले उपन्यास ही यहाँ सामने रखते हैं। इस दृष्टि से शायद जैनेन्द्रकुमार के दो-एक उपन्यास और 'अज्ञेय' के 'शेखर' को भी ले लेना उपयोगी होता। लेकिन 'शेखर' को छोड़ने का एक कारण तो यह है कि 'अज्ञेय' से मेरा घनिष्ट सम्बन्ध है और दूसरे यह भी कि सामाजिक वस्तु के रहते हुए 'शेखर' साधारणतया जीवनी-मूलक उपन्यास है, एक व्यक्ति-चित्र है। जैनेन्द्रकुमार का 'त्यागपत्र' भी अंततः व्यक्ति-चित्र है और 'सुनीता' में तो लेखक की ओर से वास्तविकता का दावा ही नहीं है। उसके पात्र सामाजिक व्यक्ति नहीं, रचना संघटित यंत्र हैं, जिनके द्वारा लेखक एक मानसिक संघर्ष को मूर्त्त रूप देना चाहता है। इन तीनों रचनाओं में लेखक की सफलता सबसे पहले टेकनीक की विजय है और वस्तु की अपेक्षा टेकनीक के अध्ययन में ही वह विशेष उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

तो उल्लिखित सभी उपन्यास समकालीन सामाजिक घटना से सम्बन्ध रखते हैं और उसी के द्वारा मानव-जीवन का चित्रण और अध्ययन करते हैं। पिछले तीन-चार वर्षों में इतने सामाजिक उपन्यासों का प्रकाशन संतोष का विषय है, यद्यपि इनमें से किसी को भी सर्वथा परिपक्व, निर्दोष कलाकृति नहीं माना जा सकता और सभी में सिद्धान्तों और मतवादों का आरोप है; वह एकप्राणता नहीं है, जो साहित्यिक कृति में होना चाहिए।

'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' राजनीतिक आन्दोलन के तीन रास्तों—गांधीवादी, कम्युनिस्ट और आतंकवादी—के अध्ययन के नाम पर वास्तव में राजनीतिक संघर्ष के परिपार्श्व में व्यक्तित्वों का ही चित्रण है। उस राजनीतिक संघर्ष में लेखक का पूर्वग्रह भी बिलकुल स्पष्ट है। दृढ़ चरित्र और शासनप्रिय ताल्लुकेदार के तीन बेटे तीन पन्थ चुनते हैं। गांधीवादी पुत्र किसी हद तक लेखक की सहानुभूति पाता है। आदर्शवादी का चित्र घटिया रूमानी उपन्यासों-जैसा है और बिलकुल ही झूठ हो जाता, अगर जहाँ-तहाँ मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पैठ उसमें प्राण नहीं डाल देती। कम्युनिस्ट को तो लेखक ने स्पष्टतया विद्रूप और तिरस्कार का पात्र बनाया है और उसके साथ लेखक के बर्ताव में उतनी ही सचाई है, जितनी सरकस के विदूषक की पट-पट पड़ने वाली चमड़े की लाठी की मार में होती है। तीन पन्थियों में कोई भी यथार्थ और सामाजिक मानव का चित्र नहीं है, न 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' ही वास्तविक यथार्थ और विश्वास्य हैं। उपन्यास का सबसे अधिक विश्वास्य और खरा चित्र ताल्लुकेदार का ही है और उसके बाद गाँव के बूढ़े झगड़ू का। और इसका कारण यही है कि इन्हीं दो पात्रों को लेखक की मानवीय सहानुभूति मिली है, इन्हीं के मन को उसने संवेदना के सहारे समझा और ग्रहण किया है। निस्संदेह उपन्यास रोचक है और लेखक की प्रतिज्ञा की सीमाओं को समझ लेने के बाद उपन्यास के बौड़मपन पर हँस सकना भी सम्भव है। लेकिन प्रश्न

उठता है कि क्या यह उपन्यास यथार्थवादी है ? क्या उसका समाज हमारा समाज है, या कि कोई भी मानव-समाज है ? क्या उसके पात्र हमारे समाज के मानव-पात्र हैं ? संक्षेप में क्या उसकी वस्तु सम-कालीन और महत्वपूर्ण—सिगनीफिकेंट—है ?

इसकी तुलना में 'गिरती दीवारें' कहीं अधिक सच्चा और यथार्थ है। उसका सच बहुत संकुचित सच है, क्योंकि उसकी दृष्टि भी संकुचित अणुवीक्षक दृष्टि है और जीवन के प्रसार और बहाव को नहीं देखती। जिस तरह मूर्त्ति पर चलता हुआ चींटा उसकी रचना की एक-एक बारीकी और सतह के खुरदरेपन को देखता है, लेकिन मूर्त्ति को नहीं देख सकता और उसके रूप की तो कल्पना ही नहीं कर सकता, उसी तरह 'गिरती दीवारें' का लेखक उपन्यास के नायक के साथ आत्मसात् होकर उस परिपार्श्व को नहीं देखता है, जिसमें कि नायक स्वल्प ईकाई-भर है। उपन्यास में कहीं-कहीं बहुत ही मार्मिक चित्रण हुआ है और कभी-कभी दृष्टि के सूक्ष्म आविष्कार के कारण कोई स्थान अथवा पात्र अत्यन्त सजीव होकर उभर आया है। लेखक की ठोस सांसारिक बुद्धि के कारण जहाँ-तहाँ पैनी और चुभती हुई उक्तियाँ मिलती हैं, जिनकी दाद देनी पड़ती है। किन्तु कुल मिलाकर उपन्यास पूरे समाज का एक संगठित चित्र नहीं देता। इतना ही नहीं, उपन्यास के नाम से जो अनुमान होता है; वस्तु के सहारे पाठक समाज की गिरती हुई दीवारों की जो कल्पना करता है, उसे स्वयं लेखक उपन्यास के अन्त में झुठला देता है। छः सौ पृष्ठ पढ़कर अन्त में यह निष्कर्ष निकलता देख बड़ी निराशा होती है कि उपन्यास की दीवारें मानव-समाज की दीवारें नहीं, पंजाबी निम्न भद्र-वर्ग की भी दीवारें नहीं; केवल यौन-कुण्ठा की दीवारें हैं। असल में उपन्यास में फैलाई गई वस्तु के आन्तरिक महत्व और अर्थ को लेखक स्वयं पूरी तरह ग्रहण नहीं कर सका, पाठकों को ग्रहण कराने की बात तो दूर

रही। 'गिरती दीवारें' में जितनी वस्तु है, वह पंजाब के हिन्दू निम्न भद्रवर्गीय जीवन के ओछेपन का सर्वांगीण चित्र उपस्थित करने के लिए काफ़ी है, और लेखक में अगर पसारा फैलाने और समेटने की सामर्थ्य होती, तो यह पुस्तक ड्राइज़र की 'अमरीकन ट्रेजेडी' का उत्तर-भारतीय प्रतिरूप हो सकती। लेकिन लेखक एक तो बार-बार प्रसंगांतर में पड़ गया है, इस या उस पात्र पर दो-चार छींटे कसने के हल्के लोभ में पड़ गया है, या फिर निम्न भद्र-वर्ग की बहुमुखी आकांक्षाओं में से केवल एक के—यौन-तृप्ति की आकांक्षा के—और उसके खण्डन से उत्पन्न होने वाले विकारों के साथ उलझा रह गया है। निःसन्देह यह खंडन जिन वर्जनाओं के कारण होता है, उन वर्जनाओं का आधार समकालीन आचार की मान्यताएं ही होती हैं। और ये मान्यताएं तत्कालीन सामाजिक जीवन की उपज होती हैं, इसलिए वर्जनाओं से हम तत्कालीन समाज-स्थिति को भी समझ सकते हैं। लेकिन इस द्राविड़-प्राणायाम के लिए पाठक क्यों तैयार हो? उपन्यासकार का आधा काम वह स्वयं क्यों करे?

इलाचन्द्र जोशी का 'निर्वासित' भी अन्ततोगत्वा व्यक्ति-चरित्र का उपन्यास है। एक ही व्यक्ति और वह भी ऐसा व्यक्ति जिसका व्यक्तित्व अनेक मानसिक और यौन-वर्जनाओं से कुण्ठित और विघटित हो गया है, उपन्यास का केन्द्र है। उस व्यक्ति को लेखक की सहानुभूति मिलती है, लेकिन पाठक की सहानुभूति इसलिए नहीं मिलती कि उसकी अकारण अस्थिरता के साथ पाठक नहीं चल सकता। उपन्यास की एक विशेषता जरूर है कि हिन्दी में एक मात्र इस उपन्यास में एटम बम के आविष्कार की महत्ता और उसकी दूर-व्यापी सम्भावनाओं पर ज़ोर दिया गया है। इतना ही नहीं, उपन्यास के घटना-चक्र में यह आविष्कार एक धुरी का काम करता जान पड़ता है। लेकिन वास्तव में चरित्र-नायक पहले ही जिस सम्पूर्ण पराजय और कुण्ठितावस्था तक पहुँच चुका है, उसी को पाठक पर अभिव्यक्त कर देने के लिए एटम

बम निर्मित्त बना लिया गया है। अगर मानव की उन्नति पर चरित्र-नायक का विश्वास पहले ही टूटा हुआ न होता (वास्तव में अहंकारी नायक का मानव में विश्वास कभी रहा ही नहीं और घटना-चक्र से जो कुण्ठित हुआ, वह केवल उसका आत्म-विश्वास है) तो एटम बम की घटना उसे तोड़ देने के लिए काफी न होती। जिन्हें मानवता पर विश्वास रहा, उन्हें आज भी है और यह नहीं कहा जा सकता कि वे मूर्ख हैं, जो एटम बम की महत्ता से परिचित नहीं हैं।

यह न समझा जाय कि मैं मानवता नाम की किसी रहस्य-पूर्ण सत्ता की दुहाई दे रहा हूँ। मैं स्वयं उन लोगों में से हूँ, जो मानते हैं अगर कोई नया रहस्यपूर्ण सत्य आविर्भूत होता है, तो वह पहले व्यक्ति के माध्यम से ही प्रकाश में आता है। समाज, समष्टि, मानवता, ये सभी जटिल और परिवर्तनशील तथ्य हैं और वैज्ञानिक अन्वेषण की उपयुक्त सामग्री हैं। हमारे विकास-पथ की दिशा इनके अध्ययन से सूचित और निर्दिष्ट भी होती है। लेकिन उस पथ पर बढ़ते हुए पूर्वनिर्दिष्ट अथवा ज्ञान के सहारे अनुमेय उन्नति से अलग जो कुछ भी होता है, वह व्यक्ति की देन है—अर्थात् समष्टि की तरह व्यक्ति भी बहुत दूर तक पूर्वनिर्देश्य और अनुमेय है। लेकिन उससे आगे जब हम अननुमेय और रहस्यमय के क्षेत्र में प्रवेश करते हैं, तो वहाँ व्यक्ति का ही महत्व होता है। इस दृष्टि से कम-से-कम मैं इलाचन्द्र जोशी को इसलिए दोष नहीं दे सकता कि वे व्यक्ति की रहस्य-मयता को इतना महत्व देते हैं। मैं यह कहना चाहता हूँ कि वे सामाजिक परिपार्श्व को और उसमें काम करने वाली जानी हुई और पूर्वानुमेय शक्तियों को उचित महत्व नहीं देते। व्यक्ति महान् है, तो इसलिए नहीं कि वह सर्वथा अननुमेय, स्वच्छन्द और अनियमित है; वरन् इसलिए कि वह एक अनुमेय और नियमित सामाजिक परिपार्श्व में रहते हुए भी उसे परिवर्तित करता है और नई दिशाएं तथा नई गति दे सकता है। परिपार्श्व के साथ उसके अन्योन्याश्रय को न

देखना व्यक्ति को ऐसी आकाश-बेल मानना है, जो अपने आधार को मार ही सकती है, और कुछ नहीं कर सकती। ऐसी कल्पना का परिणाम सम्पूर्ण पराजय और निराशावाद ही हो सकता है। और वास्तव में इलाचन्द्र जी के उपन्यास में यह परिणति हुई भी है। 'संन्यासी' से 'निर्वासित' तक का विकास इसे सूचित करता है

रचना की दृष्टि से यशपाल का 'देशद्रोही' इन उपन्यासों में सबसे अच्छा है, यद्यपि उसका स्थान भारत से अफगानिस्तान होकर फिर लौटता है और विदेशी वर्णन इतना अच्छा नहीं है, जितना कि भारत का। यशपाल एक प्रौढ़, कुशल और अध्यवसायी शिल्पी हैं, और इसी शिल्प के सहारे उन्होंने एक रोचक और पठनीय उपन्यास प्रस्तुत किया है। शिल्प और टेकनीक पर अपने अधिकार को वे अधिकाधिक राजनीतिक अथवा सैद्धान्तिक प्रतिपत्तियों में लगा रहे हैं, इस पर कुछ पाठकों को खेद हो सकता है; लेकिन अधिकांश पाठक, जो कहानी में सबसे पहले सुघड़ रोचकता चाहते हैं और दूसरी कोई कलात्मक खूबी नहीं, इस बात की अनदेखी कर जायंगे।

रांगेय राघव के उपन्यास 'घरौंदे' में प्रतिभा के भी और अपरिपक्वता के भी स्पष्टलक्षण हैं। लेखक ने अनुभव किया है कि मानवीय उद्योग एक महत्तर परिपार्श्व में होता है, जिस पर उसका आधार नहीं है, और इस अनुभव का आभास पाठकों को देने की उसने पूरी चेष्टा की है। किन्तु जहाँ प्रतिभा ग्रहण-शक्ति और सूझ देती है, वहाँ उसकी परिपक्वता अनावश्यक के परित्याग करने की निर्ममता भी देती है। वह निर्ममता रांगेय राघव में नहीं है। कालिज के विद्यार्थी-विद्यार्थिनों के अधकचरे ज्ञान और वयःसंधि-काल की अस्पष्ट लालसाओं पर आधारित वाद-विवाद बिलकुल अनावश्यक है और उपन्यास की शक्ति को क्षीण करता है। कुल मिलाकर कहना होगा कि 'घरौंदे' का महत्व लेखक की कृति में नहीं, बल्कि भावी कृति की सम्भावना में है।

'सागर; सरिता और अकाल' तथा 'महाकाल' दोनों की वस्तु बंगाल के अकाल से ली गई है। दोनों खरे यथार्थ चित्र हैं। नागर के चित्रण में अधिक बारीकी और शक्ति है, उपकरण और सामग्री का उपयोग करने का ढंग अधिक आधुनिक है। टेकनीक की दृष्टि से इन दो उपन्यासों की तुलना उपयोगी है। रामचन्द्र तिवारी का टेकनीक प्रेमचन्द के निकट है और शायद आज लिखने वाले उपन्यासकारों में इस दृष्टि से वही प्रेमचन्द के सबसे निकट हैं। 'महाकाल' के लेखक का चित्रण इससे सर्वथा भिन्न है। तिवारीजी के सामने—और प्रेमचन्द के सामने — मानवता का मानवीय उद्योगों का एक ढाँचा रहता है, जिसमें व्यक्ति का उद्योग बाँध दिया जाता है। फलतः अमुक एक और अमुक दूसरे व्यक्ति की विशेषता और रोचकता इसमें है कि दोनों एक साधारण मानव से किस हद तक भिन्न हैं। किन्तु नागर जी के सामने वैसा कोई ढाँचा नहीं है। वे प्राकृतिक शक्तियों से ताड़ित और प्रताड़ित व्यक्तियों का एक के बाद एक चित्र उपस्थित करते चलते हैं और इन चित्रों से मानवता का सम्पूर्ण चित्र तैयार करने का काम पाठक पर छोड़ देते हैं। उनका प्रकृतवादी चित्रण तत्काल प्रभाव डालता है, लेकिन चित्रों के समूह से मानवता का जो रूप हमारे सामने आता है, वह मूलतः एक नकारात्मक रूप है। फलतः व्यक्ति-चित्रों की बहुलता और रंगीनियां ही मानवता के सम्पूर्ण चित्र में बाधक होती हैं और लेखक के उद्देश्य को असफल कर देती हैं। पाठक पूछता है—'अगर यह सच है कि अकाल की दुर्घटना (वास्तव में बहुत बड़ी दुर्घटना है, किन्तु मानवीय इतिहास में केवल एक घटना है) वास्तव में मानव को इस तरह आमूल पतित कर सकती है, तो फिर मानव का महत्त्व क्या है और मानवता की रक्षा की चिन्ता हमें क्यों हो ?' परिस्थिति मानव को तोड़ती है, या बनाती है, यह ठीक है; लेकिन अगर सत्य केवल इतना ही होता, तो हम मानवता के लिए अधिक व्यस्त न होते, क्योंकि परिस्थिति ही सब-

कुछ हो जाती है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति हैं, और होते हैं, जो बनने और टूटने के नियमों के अधीन होकर पूर्णतः परिस्थिति-संचालित नहीं हो जाते। इसीलिए हम मानवता के भविष्य के बारे में आशावादी हो सकते हैं। व्यक्ति के महत्व के बारे में मैंने पहले जो-कुछ कहा, वह यहाँ प्रासंगिक है। इस दृष्टि से तिवारी जी का उपन्यास अधिक संतोषप्रद है। उसमें मानवों की वासना, लोलुपता और नीचता की पृष्ठ भूमि पर मानव के ही साहस और उद्योग का—चित्र पेश किया गया है।

समकालीन कुछ-एक उपन्यासों की इस समीक्षा का विस्तार इस अवसर के लिए कदाचित् अधिक हो गया है। दूसरे अलग-अलग उपन्यासों के साथ शायद हमारी संक्षिप्त समीक्षा में न्याय नहीं हो सका है। यह भी कहा जा सकता है कि अपने समकालीनों की आलोचना में मैंने अधिक कड़ाई बरती है। वैसा अगर हुआ भी है, तो मैं उसे बुरा नहीं समझूंगा; क्योंकि वह कड़ाई किसी पूर्व ग्रह से उत्पन्न नहीं हुई है, बल्कि मेरी इस कामना से कि हमारा साहित्य अधिकाधिक उन्नति करे और हम उसके दोषों को निर्मम दृष्टि से देखकर उन्हें दूर करें।

हम देखते हैं कि जहाँ तक मानवीय सहानुभूति का, लेखक-मानव की विश्व-मानव के साथ एकता का प्रश्न है, प्रेमचन्द इस बात में आगे थे। उनकी दृष्टि अधिक उदार थी। इतर मानवों के साथ समवेदना का सूत्र अधिक सजीव और स्पन्दनशील था। डी० एच० लारेंस ने कहीं कहा था कि 'आधुनिक सफ़ाई – सेमिटेशन--की जड़ में यह बात है कि मानव को मानव की बू असह्य हो गई है।' बहुधा मानव-जाति की उन्नति और सुधार की प्रचेष्टा में भी मानव से प्रेम नहीं, मानव के प्रति अवहेलना या घृणा की भावना काम करती है। बुद्धिवादी के लिए यह ख़तरा सदा बना रहता है कि उसकी मानवीय

संवेदना का स्रोत कहीं सूख न जाय, मानव के लिए उसका दर्द एक सूखी अनुकम्पा का ही रूप न ले ले। प्रेमचन्द की और हमारी दृष्टि में ऐसा ही अन्तर आता जा रहा है। प्रेमचन्द को मानवता से प्रेम था, हम केवल मानवता की प्रगति चाहते हैं। हमने आख्यान-साहित्य को प्रेमचन्द से आगे बढ़ाया है, लेकिन केवल टेकनीक की दिशा में। हम ज्यादा सफ़ाई लाए हैं, क्योंकि 'मानव को मानव की बू नापसंद है'। साहित्यकार की समवेदना को, मानवीय चेतना को हमने अधिक विकसित या प्रसारित नहीं किया है। यही कारण है, और यह पर्याप्त कारण है, कि प्रेमचन्द का आख्यान-साहित्य हम लोगों के लिए अब भी एक आदर्श का काम दे सकता है, हमारा मार्ग-दर्शक हो सकता है। प्रेमचन्द को हम पीछे छोड़ आए, यह दावा हम उसी दिन कर सकेंगे, जिस दिन उससे बड़ी मानवीय संवेदना हमारे बीच प्रगट हो। उसके बाद ही हम कह सकेंगे कि प्रेमचन्द का महत्व है। तब तक वे हमारे बीच में हैं, हमारे साहित्यिक कुलगुरु हैं, हमें प्रणत होकर उनसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

पांच :: नवीन हिन्दी समीक्षा का उत्थान

(प्रो० नन्ददुलारे वाजपेयी)

साहित्य शास्त्र का ह्रास उन्नीसवीं शताब्दी तक पूरा हो चुका था। उसका नया जन्म यद्यपि भारतेन्दु-युग में ही हो गया था, किन्तु समीक्षा का व्यवस्थित विकास बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मानना चाहिए। इस प्रथम उत्थान को समीक्षा का द्विवेदी-युग कहा जाता है। स्वयं द्विवेदी जी के अतिरिक्त पं० पद्मसिंह शर्मा, मिश्र बन्धु और पं० रामचन्द्र शुक्ल इस युग के प्रमुख समीक्षक हैं। साहित्य के संस्कार की प्रवृत्ति इसी समय दिखाई दी और स्वभावतः इस युग की समीक्षा ने सुधारवादी स्वरूप ग्रहण किया।

उस समय रीति शैली के काव्य का ही हिन्दी में सबसे अधिक प्रचलन था। थोड़ी मात्रा में नवीन शैली की रचना भी होने लगी थी, किन्तु तुलना में वह रीति-काव्य से बहुत कम थी। पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा का आधार मुख्यतः रीति-कविता है; यद्यपि थोड़ा-बहुत नवीन साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया। ठीक जिस मात्रा में ये दोनों प्रकार के काव्य-भेद उस समय प्रचलित थे, उसी अनुपात में शर्मा जी ने उनका विवेचन किया। इस दृष्टि से शर्मा जी अपने समय के प्रतिनिधि समीक्षक कहे जा सकते हैं।

क्रमशः नवीन साहित्य की मात्रा, परिमाण और शक्ति बढ़ती गई और रीति काव्य का अन्त होता गया। रीति के प्रभावों से द्विवेदी

युग की समीक्षा को पूरी मुक्ति नहीं मिली। प्राचीन का मोह उनसे नहीं छूटा। यदि हम नवीन समीक्षा पर इस दृष्टि से विचार करें कि विशुद्ध साहित्यिक आधार पर प्राचीन साहित्य और नवीन साहित्य का समन्वय कब हुआ, अर्थात् कब समीक्षा की एक ऐसी सत्ता प्रतिष्ठित हुई जिसमें नवीन और प्राचीन साहित्य एक ही तुला पर रखकर देखे गए, तो हम कहेंगे कि वह युग द्विवेदी युग के पश्चात् उपस्थित हुआ। स्वयं शुक्ल जी का झुकाव नवीन की अपेक्षा प्राचीन की ओर अधिक था।

जिस प्रकार शुक्ल जी और उनके पूर्ववर्ती समीक्षक प्राचीन साहित्य की ओर इतना अधिक झुक गए थे कि वे नवीन साहित्य की विशेषताओं की ठीक परख न कर सके, उसी प्रकार आज की नवीन समीक्षा प्रचलित साहित्य की ओर इतनी आकृष्ट है कि न केवल प्राचीन साहित्य की उपेक्षा हो रही है, बल्कि साहित्य की कोई सार्वजनीन और स्थिर माप बनने में भी बाधा पड़ रही है। यह स्वाभाविक है कि द्विवेदी युग में नवीन साहित्य का पल्ला हलका होने के कारण समीक्षकों की दृष्टि उसके गुणों की ओर न जा सकी, किन्तु इस बात का कोई कारण नहीं दीखता कि आज के नये समीक्षक प्राचीन और नवीन समस्त साहित्य को सम दृष्टि से क्यों न देखें?

साहित्य की कोई अपनी स्थायी कसौटी क्यों नहीं बन रही? क्यों हम अपनी सभी विशेष दृष्टियों से साहित्यिक कृतियों की समीक्षा करते हैं? इसका कारण केवल हमारे संस्कार नहीं हैं, वे अनेक मतवाद भी हैं, जो नई समीक्षा में प्रवेश कर चुके हैं। इन मतवादों से किस प्रकार हमारी और हमारे साहित्य की रक्षा हो, आज का साहित्य समीक्षा की मुख्य समस्या यही है।

यहाँ हम धारावाहिक रूप से यह देखना चाहते हैं कि हिन्दी की नवीन समीक्षा किन आरम्भिक परिस्थितियों को पार कर आज की भूमि पर पहुँची है और किस प्रकार वह भविष्य पथ की ओर अग्रसर

हो रही है। उसने कितना साधन-सम्बल संग्रह कर लिया है और उसकी सहायता से वह आगामी परिस्थितियों का सामना कहाँ तक कर सकती है ?

पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा में सुधार का मुख्य विषय रचना-कौशल था। रीति-काव्य में, जो शर्मा जी के समय का प्रचलित काव्य-प्रवाह था, कौशल की ही प्रधानता थी और उनके समय के नव-निर्माण में इसी की कमी थी। फलतः शर्मा जी की समीक्षा का मुख्य आधार काव्य-कौशल बना जो सामयिक साहित्यिक स्थिति का स्वाभाविक परिणाम था। नवीन सुधार का विषय काव्य-आत्मा नहीं, काव्य शरीर था। यह भी समय को देखते हुए अनिवार्य ही था।

काव्य-शरीर के अन्तर्गत भाषा, पद-प्रयोग, उक्ति-चमत्कार और चित्रण-कौशल आदि आते हैं, इन्हीं की ओर शर्मा जी की दृष्टि गई। यदि यह प्रश्न किया जाय कि काव्य-शरीर और काव्य-आत्मा में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, तो मोटे तौर पर यही कहा जा सकता है कि सूर और तुलसी का काव्य-आत्मा स्थानीय है और बिहारी तथा देव का काव्य-शरीर स्थानीय, पं० पद्मसिंह शर्मा की समीक्षा काव्य-शरीर का आग्रह करके चली, देव और बिहारी को आदर्श बनाकर आगे बढ़ी।

सुधार की पहली सीढ़ी शरीर-सम्बन्धिनी ही होती है, और उसका अपना मूल्य भी कुछ कम नहीं होता। अंग्रेजी की युक्ति है कि शुद्ध शरीर में ही शुद्ध आत्मा रह सकती है, यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं कि शुद्ध शरीर में सदैव शुद्ध आत्मा ही निवास करती है। शर्मा जी ने काव्य-शरीर की शुद्धि के सभी पहलू स्पष्ट कर दिए और उसकी समस्त सम्भावनाएं उद्‌घाटित कर दीं। काव्य-समीक्षा के लिए उनका कार्य अपनी सीमा में महत्व रखता है और यह सिद्ध करता है कि शरीर के सुधारने से ही मन और आत्मा नहीं संवरते।

नवीन काव्य-धारा के सम्बन्ध में शर्मा जी का मत मुक्तक काव्य के--बिहारी और देव आदि के---काव्य प्रतिमानों से ही प्रभावित था।

नवीन कविता किस आदर्श को ग्रहण करे, इस विषय पर उनके संस्कार रीति शैली से ही परिचालित हुए थे, फलतः नवीन काव्य की गति-विधि पर न तो उनकी सम्मति का विशेष मूल्य था और न प्रभाव ही। हिन्दी के लिए उन्होंने हाली का आदर्श ग्रहण करने की सिफारिश की, किन्तु नवीन कविता उस साँचे में नहीं बैठ सकती थी।

द्विवेदी युग का नवीन काव्य आदर्शात्मक काव्य था। उसके मूल में नवयुग की भावना का विन्यास था। छायावाद की कविता तो और भी अधिक आत्माभिमुखी थी। उसके लिए देव और बिहारी के साँचे कहाँ तक ठीक उतर सकते थे, यह आज का सामान्य व्यक्ति भी आसानी से समझ सकता है।

'मिश्र बन्धुओं' की समीक्षा में देश-काल के उपादानों का संग्रह हुआ और कवियों की जीवनी पर भी प्रकाश पड़ा, किन्तु वह सब उल्लेख नाम मात्र का था, समीक्षा की दृष्टि में कोई परिवर्तन न हो पाया। सब कुछ होते हुए मिश्र बन्धु रीति-काव्य का मोह न त्याग सके, न उन्होंने काव्य के भाव-पक्ष को कोरी कलात्मकता से पृथक् करके देखा। रीति-काव्य और रीति-ग्रन्थों का उनकी समीक्षा पर अमिट प्रभाव पड़ा है।

द्विवेदी जी ने समीक्षा के जीवन्त पहलू -आत्म-पक्ष-पर पूरा ध्यान दिया, इसका सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उनकी छत्र-छाया में नवीन धारा के कवियों को अत्यधिक प्रोत्साहन प्राप्त हुआ। सम्पूर्ण त्रुटियों के रहते हुए युग-काव्य का पोषण करना द्विवेदी जी का ही काम था और वे युग-द्रष्टा साहित्यिक और समीक्षक के पद को गौरवान्वित करने वाले प्रथम व्यक्ति थे। 'हिन्दी नवरत्न' पर अपना मत देते हुए उन्होंने एक ओर सूर और तुलसी जैसे सन्त कवियों के काव्य को शृंगारी कवियों से पृथक् और ऊँचा स्थान देने की सिफारिश की, और दूसरी ओर भारतेन्दु—जैसे नई शैली के स्वदेश—प्रेमी कवि को सम्मानित पद प्रदान किया। समीक्षा की एक सुन्दर रूप-रेखा द्विवेदी जी ने प्रस्तुत की, यद्यपि उसमें रंग भरने, उसे प्रशस्त करने और

शास्त्रीय मर्यादा देने का कार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल द्वारा सम्पन्न हुआ।

पं० कृष्णबिहारी मिश्र और लाला भगवानदीन भी इस युग के मुख्य समीक्षकों में हैं, जिन पर रीति-पद्धति की पूरी छाप पड़ी है। द्विवेदी जी अपनी समीक्षा में काव्य-विषय को महत्व देते हैं, भले ही शैली का सौन्दर्य अथवा भावात्मकता उसमें न हो। मिश्र जी और दीन जी विषय की अपेक्षा काव्य-शैली को मुख्य ठहराते हैं, उन्हें विषय के महत्व अथवा काव्य की वास्तविक भावात्मकता से प्रयोजन था तथा द्विवेदी युग की समीक्षा के ये दो प्रतिवाद हैं जिनके मध्य कोई सामंजस्य न था।

शुक्ल जी अपनी समीक्षा में मिश्र बन्धुओं अथवा शर्मा जी की अपेक्षा द्विवेदी जी के अधिक निकट थे। उन्होंने काव्य विषय के महत्व का आरम्भ से ही ध्यान रखा और सामाजिक व्यवहार की पृष्ठ-भूमि पर काव्य की भाव सत्ता को स्थापित किया। यही शुक्ल जी का काव्यात्मक लोकवाद है, जो उनका मुख्य साहित्यिक सिद्धान्त है। काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष भी हो सकती है, शुक्ल जी इसे स्वीकार नहीं कर सके।

काव्य की आत्मा की ओर उनकी दृष्टि गई, किन्तु आत्मा के स्थूल-पक्ष व्यवहार या नीति पर ही वह टिक रही। काव्य विषय का आग्रह उन्हें 'गुहि महं रघुपति नाम उदारा' के प्रवर्तक तुलसीदास के समीप ले गया। तुलसीदास के काव्यात्मक महत्व पर दो मत नहीं हो सकते, किन्तु इतना स्वीकार करना होगा कि गोस्वामी जी कवि के साथ ही अपने युग के एक धर्म संस्थापक, सुधारक और संस्कारक भी थे। उनके काव्य में उपदेशात्मक तथ्य कम नहीं हैं।

विशुद्ध काव्यात्मक भाव संवेदन की अपेक्षा नैतिक भाव-सत्ता की ओर शुक्लजी का झुकाव कहीं अधिक था, यह उनके समीक्षाकार्य से लक्षित होता है। भारतीय रस-सिद्धांत को उन्होंने मुख्य समीक्षा-सिद्धान्त माना, किन्तु रस के आनन्द पक्ष पर, उसके आध्यात्मिक

स्वरूप पर उनकी निगाह नहीं गई। साहित्य-समीक्षा को सैद्धान्तिक आधार देने वाले प्रथम समीक्षक शुक्लजी ही थे, किन्तु रस-संबंधी उनकी व्याख्या व्यंजना या अनुभूति पर आश्रित न होकर, एक नैतिक आधार का अनुसंधान करती है।

इस सम्बन्ध में उनका 'साधारणीकरण' का उल्लेख ध्यान देने योग्य है। काव्य में इसकी एक अबाध धारा न मानकर वे वस्तु या विषय-चित्रण के आधार पर उसकी कई भूमियां मानते हैं। 'रामचरित मानस' के तीन पात्रों का उदाहरण देकर वे कहते हैं कि राम के चित्रण में पाठक या श्रोता की वृत्ति रमती है—रसानुभव करती है; रावण के चित्रण में वह रसानुभव नहीं करती और सुग्रीव आदि पात्रों के चित्रण में अंशतः रस लेती है। यह अनोखी उपपत्ति काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्ल जी की नैतिक-काव्य की समस्त क्रमागत विवेचना के विरुद्ध है तथा शुक्ल जी की नैतिक-काव्य दृष्टि का विज्ञापन करती है।

रस और अलंकार—भाव पक्ष और शैली पक्ष का पृथक्करण और आत्यंतिक विच्छेद शुक्लजी का दूसरा साहित्यिक सिद्धांत है। विभाव पक्ष और अलंकार पक्ष, काव्य-भावना और काव्य-व्यंजना, को दो पृथक् प्रक्रियाएं मानने के कारण शुक्ल जी उनके समन्वय की कल्पना भी नहीं कर सके। न तो भारतीय साहित्याचार्य और न क्रोसे-जैसे नवीन सिद्धान्त-स्थापक वस्तु और शैली में इस प्रकार का कोई भेद स्वीकार करते हैं।

काव्य में प्रकृति-वर्णन के एक विशेष प्रकार का आग्रह करते हुए शुक्ल जी काव्य के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का मत उपस्थित करते हैं। काव्य की देश-काल-परिच्छिन्न शैलियां और उनकी प्रेरक परिस्थितियां शुक्लजी को मान्य नहीं हैं। रागात्मिका वृत्ति का एक ही नित्य और स्थिर स्वरूप मानने के कारण शुक्ल जी काव्य देश-कालानुरूप विकास की उपेक्षा कर गए हैं। इसीलिए वे नाटक, उपन्यास,

आख्यायिका आदि अनेक काव्यांगों के स्वतन्त्र रूपों की ओर आकृष्ट नहीं हुए।

सामान्य नैतिकता का ही नहीं, भारतीय समाज-पद्धति और वर्ण-व्यवस्था का भी प्रभाव शुक्लजी की समीक्षा पर देखा जाता है। वर्णाश्रम-व्यवस्था का एक समाज-पद्धति के रूप में समर्थन करना एक बात है और उसे काव्य वैशिष्ट्य का हेतु मान लेना दूसरी ही बात है। शुक्लजी काव्य के नैतिक आदर्श के कारण भावनावान् कवि सूरदास के प्रति जो मत व्यक्त करते हैं उनसे शुक्ल जी की समीक्षा-सम्बन्धी व्यक्तिगत दृष्टि का परिचय मिलता है। स्थूल व्यावहारिक सम्बन्धों का प्रबन्ध-काव्य के साँचे में उल्लेख न करने के कारण नवीन भावात्मक और दार्शनिक काव्य से भी वे विरक्त हैं।

एक नवीन उत्थानात्मक काव्यादर्श का निर्माण शुक्ल जी ने अवश्य किया, जिसके अन्तर्गत हिन्दी के प्राचीन और नवीन साहित्य का आरम्भिक विवेचन सुन्दर रूप में किया जा सका और हिन्दी की एक पुष्ट परिपाटी बन सकी, किन्तु यह नहीं कह सकते कि शुक्ल जी की सैद्धांतिक और व्यावहारिक समीक्षाएं भारतीय या पाश्चात्य साहित्यानुशीलन की उन्नततम कोटियों तक पहुंच सकी हैं। साहित्यिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक समीक्षा का प्रथम चरण शुक्लजी ने पूरा किया।

उनके कार्य का ऐतिहासिक महत्व है। भारतीय काव्य-समीक्षा के पुनरुज्जीवन का प्राथमिक प्रयास उन्होंने किया। काव्य-आत्मा के नैतिक स्वरूप की उन्होंने पूर्ण प्रतिष्ठा की, किन्तु काव्य का निर्विशेष स्वरूप जिसमें वस्तु और प्रक्रिया, रस और अलंकार, भाव और भाषा के बीच पूर्ण तादात्म्य की खोज होती है, शुक्लजी की समीक्षा में उपलब्ध नहीं। पाश्चात्य काव्य-समीक्षा के बहुत थोड़े और एक विशेष अंश पर ही उनकी दृष्टि गई, जो व्यापक नहीं कही जा सकती।

हिन्दी साहित्य का महान् उपकार हुआ, किन्तु विशुद्ध साहित्यिक

सिद्धान्त की वह प्रतिष्ठा, जो पूर्व और पश्चिम, नवीन और अतीत की काव्य सम्पत्ति को पूर्णतः आत्मसात् कर सके और जिसके द्वारा सभी काव्य-शैलियों, काव्यांगों और कलात्मक स्फूर्तियों का सम्यक आकलन हो जाय। काव्य-साहित्य की वैज्ञानिक व्याख्या और काव्य सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन शुक्लजी की कार्य-परिधि में नहीं आता।

इसी समय आचार्य श्यामसुन्दरदास की 'साहित्यालोचन' और श्री बख्शी की 'विश्व-साहित्य' पुस्तकें प्रकाशित हुईं। 'साहित्यालोचन' में काव्य, नाटक, उपन्यास आदि विविध साहित्यांगों की पहली बार सुन्दर व्याख्या की गई और 'विश्व-साहित्य' में यूरोपीय और विशेषकर अंग्रेजी साहित्य की एक मोटी रूप रेखा प्रस्तुत की गई। इनमें से प्रथम ग्रन्थ का हिन्दी साहित्य-समीक्षा पर अभीष्ट प्रभाव पड़ा और साहित्य को नैतिक सीमा से ऊपर उठाकर सर्वजनिक कलावस्तु के रूप में देखने की अपूर्व प्रेरणा पैदा हुई।

शुक्ल जी का समीक्षा-कार्य पांडित्यपूर्ण होता हुआ भी उनकी वैयक्तिक रुचियों का द्योतक है। इसी कारण वह मार्मिक है, किन्तु वस्तुगत और वैज्ञानिक नहीं। बाबू श्यामसुन्दरदास का 'साहित्या-लोचन' उतना मौलिक न हो, किन्तु वह साहित्य और उसके अंगों की तटस्थ, ऐतिहासिक तथा वास्तविक व्याख्या का प्रथम प्रयत्न है। सैद्धा-न्तिक दृष्टि से शुक्लजी के नैतिक और व्यवहारवादी कलादर्श की अपेक्षा वह अधिक साहित्यिक है।

इसी समय नवीन साहित्य का नवोन्मेष हो रहा था और उसकी व्याख्या करने वाले समीक्षक भी क्षेत्र में आ रहे थे। नवीन काव्य में आत्माभिव्यंजना का प्राधान्य था और प्रगति काव्य का माध्यम ग्रहण किया गया था। इसी के अनुरूप नवीन समीक्षा भी जीवन और कला का ऐक्य तथा वस्तु और शैली का ऐक्य उद्घोषित करके चली। नवीन प्रगति काव्य की संगीतात्मकता और लय से प्रभावित होकर

नये समीक्षकों ने प्रथम बार काव्य की आध्यात्मिकता का अनुभव किया, काव्य-रस को अलौकिक माना।

शुक्ल जी प्रभृति पूर्ववर्ती समीक्षक काव्य-विषय को महत्व देते थे और आलंबन का साधारणीकरण आवश्यक बताते थे, किन्तु नई समीक्षा, जो विशुद्ध काव्यानुभूति के आधार पर प्रतिष्ठित हुई, काव्य को ही आध्यात्मिक प्रक्रिया स्वीकार करने लगी। सम्पूर्ण काव्य रसात्मक नहीं होता, किन्तु काव्य रसात्मक ही होता है। काव्य की रसात्मकता का अर्थ ही है उसकी आध्यात्मिकता। रस का आनन्द अलौकिक आनन्द है।

भारतीय राष्ट्र की नव-जागृति के काल में नवीन कविता जो सुन्दर समवेदना, दार्शनिक आभा, कल्पना की अपूर्व छटा तथा भाषा और अभिव्यंजना का नव-विकास लेकर उपस्थित हुई उससे हिन्दी समीक्षा काव्य की उच्चतम भावभूमि का प्रथम बार परिदर्शन कर सकी। बंगला में रवीन्द्रनाथ और हिन्दी में नवीन रहस्यवादी, दार्शनिक, सौन्दर्यचेता कवियों ने काव्य को उच्चतम सांस्कृतिक भूमि पर पहुँचने का प्रयत्न किया। फलतः नवीन समीक्षा में भी नई उमंग उत्पन्न हुई और काव्य का सौन्दर्य नैतिक आवरण को छोड़कर आध्यात्मिक अनुभूति का प्रेरक बन गया।

किन्तु काव्यानुभूति के साथ संगीत का संयोग इस युग में बना ही रहा। संगीत का इतना गहरा प्रभाव पड़ गया था कि इस युग की गद्य की भाषा भी ध्वन्यात्ममक हो रही थी। प्रसाद के नाटक, निराला के उपन्यास और पंतजी की गद्य-भूमिकाएं अतिरंजित भाषा के उदाहरण हैं। प्रगीतात्मक काव्य का इतना प्रसार था कि साहित्य के आख्यानात्मक और नाटकीय अंग भी अपनी विशेषता छोड़कर काव्यालंकारों से सुसज्जित हो गए।

एक अतिरिक्त सौन्दर्य संवेदना इस युग की रचनाओं पर अधिकार करने लगी थी जिससे विशुद्ध भाव-व्यंजना का मार्ग अवरुद्ध होने

लगा था। कतिपय समीक्षकों ने इसी कारण इस युग को सौंदर्य का कला प्रधान युग कहा है, किन्तु यह आंशिक सत्य ही है। वास्तव में एक सांस्कृतिक अभिरुचि, जिसमें भाषा और भावों की अलंकृति की स्वाभाविक प्रेरणा थी, इस युग में देखी जाती है। काव्य में विशुद्ध भाव-व्यंजना के साथ यह सौंदर्यालंकृति भी मिली हुई है।

फिर भी काव्य का अनुभूति-पक्ष इस काल की काव्य समीक्षा में प्रमुख रीति से प्रदर्शित हुआ और समीक्षकों ने अनुभूति के मानसिक आधार की विवेचना करने का यथेष्ट प्रयत्न किया। विशुद्ध काव्यात्मक अनुभूति या भावयोग की खोज की गई तथा काव्य को मानसिक संवेदना का आधार दिया गया। प्रथम बार एक मापरेखा बनी जिससे प्राचीन और नवीन, भारतीय और पाश्चात्य साहित्य एकाधार-पर रखकर देखा जा सका।

हिन्दी समीक्षा के लिए यह युग-प्रवर्तक कार्य था क्योंकि इसी आधार पर हिन्दी साहित्य विश्व-साहित्य का एक अंग माना जा सका। साहित्य की एक ऐसी वास्तविक चेतना उत्पन्न हुई जिसमें देशगत और कालगत बन्धनों के लिए स्थान न था। रहस्यवादी समीक्षा-युग की यह विशेषता उल्लेखनीय है।

ज्यों ही काव्य की यह अबाध सत्ता प्रतिष्ठित हुई त्यों ही समीक्षकों को यह अनुभव भी हुआ कि ऐसा उत्कृष्ट साहित्य जो सार्वदेशिक और सर्वकालिक कहा जा सके, विरल है और प्रत्येक साहित्यिक रचना को यह सर्वोच्च पद प्राप्त नहीं होता। इसी समय समीक्षकों का एक वर्ग इस मत के प्रचार में लगा कि हिन्दी का नवीन काव्य पूंजीवादी सभ्यता का काव्य है और उस पर उक्त सभ्यता के एक युग विशेष की छाप है। मानव इतिहास को मार्क्स ने जिन कतिपय कालों में विभाजित किया है, उसी मापदण्ड को लेकर नये समीक्षक हिन्दी कविता पर प्रयोग करने लगे।

रहस्यवादी मनोवैज्ञानिक और भावात्मक समीक्षकों की यह प्रति-

क्रिया थी। वे समीक्षक जब काव्य का — श्रेष्ठ काव्य का देशकाल — निर्बाध रूप मानते थे तब नया समीक्षक-दल इसके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ और नवीन कविता को 'पूंजीवादी' कविता कहने लगा।

इन दोनों मतों के तारतम्य को समझ लेना चाहिए। पहला मत काव्य के मनोवैज्ञानिक, साहित्यिक और भावात्मक स्वरूप की व्याख्या करता है, किन्तु यह व्याख्या इतनी सूक्ष्म और मार्मिक है कि प्रत्येक समीक्षक श्रेष्ठ काव्य का चयन इस पद्धति से नहीं कर सकता। भय है कि समीक्षक प्रभावाभिव्यंजक हो जायगा और अपनी रुचि-विशेष का अनुशासन स्वीकार कर लेगा। वह साहित्य की कोई तटस्थ या वस्तुगत व्याख्या न कर सकेगा।

किन्तु इस भय के साथ इस सिद्धान्त का अपना बल भी है और वह बल काव्य-प्रेमी मात्र के साक्ष्य का बल है। सभी सहृदय यह स्वीकार करेंगे कि श्रेष्ठ कवियों की सुन्दरतम रचनाओं में सार्वजनीनता है, युग का प्रतिबन्ध या वाद का अपवाद नहीं। काव्य प्रतिक्रिया कोरी भौतिक वस्तु नहीं है, यह मानव-कल्पना की सृष्टि है। वह क्रमागत मानव-संस्कृति की परिपूर्णता का परिणाम है।

दूसरी ओर यह भी असत्य नहीं कि कवि भी मनुष्य है और अपने युग की स्थितियों और प्रवृत्तियों का उस पर भी प्रभाव है। दोनों मत नितांत विरोधी नहीं हैं। एक काव्य के मानसिक और कलात्मक गुणों की व्याख्या करता है और दूसरा उन ऐतिहासिक स्थितियों की शोध करता है जिसमें वह रचना सम्भव हुई। काव्य के ये दो पक्ष हैं, दोनों का स्वतन्त्र अध्ययन और समन्वय सम्भव है, यह स्वीकार करना होगा।

किन्तु दोनों दृष्टियों में विभेद बढ़ता ही गया है। एक ओर नवयुग की मनोवैज्ञानिक समीक्षा अपनी दृढ़ साहित्यिक भित्ति का त्याग कर केवल काव्य-प्रभाव की अभिव्यंजना करने लगी और दूसरी ओर नये समीक्षक साहित्यिक, कलात्मक और सांस्कृतिक विशेषताओं का

एक वाद विशेष के लिए तिरस्कार करने लगे।

किन्तु दोनों पक्षों में सतर्क समीक्षकों का एक दल ऐसा भी है जो काव्य की व्यावहारिक समीक्षा में इतना अतिवादी नहीं बना। साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जिन नवीन कवियों का स्वागत एक पक्ष के समीक्षकों ने किया था दूसरे पक्ष के समीक्षकों ने अपनी सामाजिक व्याख्याओं द्वारा उन्हीं कवियों के महत्व को स्वीकार किया। इन दोनों दलों के समीक्षकों में पक्ष-भेद अवश्य है किन्तु वास्तविक भेद नहीं।

कट्टरता का परिणाम दोनों ओर अनिष्टकारी हुआ, हिन्दी काव्य-समीक्षा के सामने संकट उत्पन्न हो गया कि वह आपस की तू-तू-मैं-मैं में पड़कर कहीं अपने महान् उद्देश्य से गिर न जाय। प्रभाववादी समीक्षक अत्यन्त वैयक्तिक सीमाओं पर पहुंच गये और केवल हृदय की क्षणिक प्रतिक्रिया को समीक्षा के नाम से प्रकाशित करने लगे। अपनी रुचि के कवियों की आलंकारिक भाषा में, उपमान-उपमेय विधान द्वारा, प्रशंसा करना ही उनका काम हो गया।

दूसरी ओर परिस्थितियों और काव्य-रचनाओं की सापेक्षता का आग्रह भी साहित्यिक मर्यादा को पार कर गया और हिन्दी साहित्य में 'वादी' समीक्षा का प्राबल्य हो उठा। प्रचारक समीक्षकों ने सामाजिक विकास के अस्त्र के रूप में साहित्य की व्याख्या की और स्वभावतः उग्र रूप में साहित्यिक गुणों पर प्रहार किया। इस उत्तेजनापूर्ण प्रतिक्रिया में काव्य की शिष्ट समीक्षा के लिए स्थान ही कहां था।

फिर समीक्षा-धारा का अपना उपयोग था। हिन्दी की कविता का सामाजिक आधार फिर क्षीण हो रहा था और कविगण अपने ऐकान्तिक तराने गाने लगे थे? उनकी रचनाओं पर अतिरिक्त विषाद की छाया पड़ गई थी, इससे नवीन काव्य-धारा की रक्षा करनी थी। अब भारतीय सामाजिक व्यवस्था में वह मार्मिक प्रहर आ गया था, जब

कवियों के संवेदनशील हृदय और समीक्षकों की मर्मग्राहिणी दृष्टि नवीन समाजवादी आन्दोलन का साथ दें। इन्हीं कारणों से प्रगतिवादी धारा का बल बढ़ गया।

प्रभाववादी समीक्षा और प्रगतिवादी समीक्षा का द्विमुखी संघर्ष ही हमारे साहित्य के सम्मुख नहीं, एक तीसरी समीक्षा-पद्धति भी धीरे-धीरे सिर उठा रही है और वह प्रगतिवादी सामाजिक काव्य-सिद्धांत के विपरीत पक्ष को उपस्थित कर रही है। इस वर्ग के समीक्षक यह सिद्धांत उपस्थित करते हैं, कि काव्य वास्तव में सामाजिक चेतना का विषय नहीं है, वह कवि की अंतश्चेतना की अभिव्यक्ति है। वर्तमान कवि सामाजिक 'वैषम्य से आक्रान्त' है और वह कल्पना जगत् में आत्मतृप्ति करता है। कविता उसकी आत्मतृप्ति का साधन है।

यह समीक्षक-वर्ग साहित्य के सामाजिक पक्ष को महत्व देने के पहले कवि-व्यक्ति के मानसिक विश्लेषण का प्रयास करता है। बिना मानसिक कुण्ठा, अतृप्ति या मनोग्रन्थि के काव्य-कर्म आरम्भ ही नहीं होता। काव्य का मुख्य प्रयोजन कवि का मानसिक समाधान पहले है, पीछे और कुछ।

स्पष्ट है कि जीवन के सामाजिक और वैयक्तिक पक्षों का परस्पर समन्वय न होने पर ही इस प्रकार की नितान्त विरोधिनी धारणाएं उत्पन्न होती हैं। वर्तमान साहित्य जगत् में विरोधी मत और प्रचार उपस्थित हैं। इतने से ही हमारी वर्तमान विषमतापूर्ण स्थिति का परिचय मिल जाता है। किन्तु इससे यह भी सूचित होता है कि वर्तमान अतिवाद स्वस्थ समीक्षा-सिद्धान्त का पद नहीं ग्रहण कर सकते; वे एकांगी और अपूर्ण हैं।

सामाजिक परिस्थितियों को सहसा बदल देना हमारी शक्ति में नहीं है किन्तु इतना हम कर सकते हैं कि साहित्य-समीक्षा के स्वस्थ विकास में इन अतिवादों के खतरे को समझें और इनमें समन्वय लाने

का उद्योग करें। आज की हमारी समीक्षा-दृष्टि नवीन साहित्यिक स्वरूपों के ही विचार-विमर्श•• लगी में हुई है। साहित्य के व्यापक आदर्श जिनमें नवीन और प्राचीन साहित्य-सामग्री का हमारी सांस्कृतिक और कलात्मक निधि का—सामूहिक रूप से ग्रहण हो सके, हमारी चिन्तना से दूर होते जा रहे हैं। उस पर फिर से दृष्टिपात करना होगा और अपनी समीक्षा दृष्टि को स्वस्थ, सर्वाङ्गीण तथा समृद्ध बनाना होगा जिससे साहित्य की सांस्कृतिक और कलात्मक परम्परा बनी रहे।

सैद्धान्तिक दृष्टि से हिन्दी समीक्षा अब तक वैज्ञानिक या शास्त्रीय स्थिति पर नहीं पहुंचती है, यद्यपि प्रयोगों और प्रणालियों के आविष्कार हो रहे हैं। विकास की दृष्टि से अभी हिन्दी समीक्षा अंग्रेजी समीक्षा की-सी परिपूर्ण नहीं है।

प० रामचन्द्र शुक्ल की समीक्षा-दृष्टि यद्यपि नवयुग की हिन्दी समीक्षा की आरम्भिक अवस्था की द्योतक थी, और उसमें एक विशेष प्रकार के साहित्य के ही सत्कार की प्रवृत्ति होने के कारण एकांगिता भी थी, किन्तु व्यक्तित्व और कार्य की दृष्टि से अब तक नये समीक्षक उनकी समता नहीं कर सके हैं। जब तक हिन्दी में समीक्षा की विविध प्रणालियों और सिद्धांतों का स्पष्टीकरण न होगा तब तक नई समीक्षा का कार्य अधूरा ही रहेगा।

शुक्लजी की अपेक्षा नयी समीक्षा में साहित्य के ऐतिहासिक विकास और सामाजिक प्रेरणा-शक्तियों, शैली-भेदों, और कला-स्वरूपों की परख अधिक व्यापक और वस्तुगत है, इसमें सन्देह नहीं। शुक्लजी की नैतिक और बौद्धिक दृष्टि की अपेक्षा नये समीक्षकों की सौन्दर्य, अनुभूति और कला-प्रधान दृष्टि एक निश्चित प्रगति है, किन्तु सहसा नये वादों के प्रवेश के कारण समीक्षा की प्रगति में एक अवरोध आ गया है।

क्षेत्र में अच्छे समीक्षकों की कमी नहीं है। विविध मतों और

दृष्टियों का प्रतिनिधित्व करने वाले विवेचक मौजूद हैं। मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक समीक्षा, प्रभाववादी समीक्षा और देश, काल और परिस्थिति की सापेक्षता में साहित्य का निरूपण करनेवाली समीक्षा, प्रगतिवादी समीक्षा, और अंतश्चेतना-निरूपक समीक्षा, सभी अपना-अपना काम कर रही हैं। इन सब धाराओं के संयोग से नवीन समीक्षा का युग-निर्माण हो रहा है। प्रतिभाएं अनेक हैं, समन्वय अपेक्षित है। आशा है यह कार्य भी सम्पन्न होगा।

छै : : हिन्दी के कुछ गद्य-गीत लेखक

(श्री विश्वम्भर 'मानव')

गद्य-गीत शब्द ही इस बात का द्योतक है कि यह गद्य और पद्य के मध्य की कोई वस्तु है। गद्य जो अपनी सीमा में नहीं रहा पद्य की ओर बढ़ गया, गीत जो अपनी परिधि नहीं छू सका गद्य की ओर लौट आया; दोनों मिलकर गद्य-गीत बन गए। गद्य ने पद्य से कुछ स्वीकार किया और पद्य ने गद्य को कुछ दिया; इस ग्रहण-प्रदान की प्रक्रिया ने हिन्दी में एक नवीन शैली को जन्म दिया। गद्य ने काव्य से भावुकता ली, रस लिया, पर आन्तरिक मिलन के लिए यह कहा कि छन्द के वस्त्र उतार कर आओ! गद्य-गीत गद्य-साहित्य के ही अन्तर्गत आता है, चाहे वह कितना ही भाव-प्रवण कल्पना प्रधान रसशील हो। उसे जो गीत कहा जाता है उसका कारण यह है कि उसने गीत की कई विशेषताएं अपने में समाहित कर ली हैं। गीत के समान ही गद्य गीत आकार में लघु होता है। गीत के समान ही उसमें एक भाव, एक वृत्ति, एक वातावरण, एक विचार का निर्वाह आदि से अन्त तक होता है। गीत की भाँति ही वह रसमय होना चाहिए, नहीं तो गद्य-गीत कहने में कोई सार्थकता नहीं रही। यद्यपि वह छन्द के बन्धनों में बंधा हुआ नहीं, परन्तु उसमें शब्दों, वाक्यांशों या वाक्यों की आवृत्ति इस प्रकार होती है कि छन्द का ही आनन्द उसमें आता है। साहित्य

के सभी अंगों की भाँति गद्य-गीत लिखने के लिए भी बड़ी क्षमता की आवश्यकता है। गीत के समान गद्य-गीत भी भावावेश में उद्भूत होते हैं। इस आवेश को संयम के साथ शब्द रूप देना सहज कर्म नहीं हैं। हिन्दी में गद्य-गीत के लेखक अभी उँगलियों पर गिनने योग्य हैं, पर समय आ रहा है जब इस अंग की पूर्ति भी अधिक मनोयोग और उत्साह से होगी।

गद्य लिखते समय लेखक जब भावावेश में आता है तब उसकी पंक्तियाँ स्वतः चमक उठती हैं। लेखक प्रत्येक क्षण विचार-प्रधान नहीं रहता। विश्लेषण करना, सिद्धान्त की स्थापना करना, वर्णन देना ही चाहे उसका लक्ष्य रहता हो पर वह भी हृदयवान व्यक्ति है, कविता उसके भी हृदय में रहती है, अतः उसकी पंक्तियों पर भी भावुकता का रंग चढ़ जाता है। धार्मिक ग्रन्थों में यह बात आप विशेष रूप से पायंगे। बाइबिल यदि धर्म ग्रन्थ न होता तो गद्य-काव्य का उदाहरण उपस्थित करता, किसी भी देश के साहित्य में इस प्रकार के उदाहरण मिल सकते हैं। धार्मिक ग्रन्थों से भिन्न ग्रन्थों में भी ऐसे उदाहरण छाँटे जा सकते हैं। हिन्दी में पं० रामचन्द्र शुक्ल की 'चिन्तामणि' से अधिक विचार प्रधान शायद ही कोई ग्रन्थ हो, पर भाव-मग्नता के दृष्टान्त उसमें भी यहाँ-वहाँ हैं। बंगला में चन्द्रशेखर के 'उद्भ्रान्त प्रेम' और हिन्दी में महाराजकुमार डा० रघुवीरसिंह के निबन्धों में से तो सैकड़ों उदाहरण इस प्रकार के पृथक् करके दिखाए जा सकते हैं। पर इन्हें गद्य-गीत नहीं कहा जा सकता। गद्य-गीत की कला भिन्न प्रकार की एक स्वतन्त्र कला है।

हिन्दी में गद्य-गीतों का श्रीगणेश राय कृष्णदास से हुआ। इसके उपरान्त चतुरसेन शास्त्री और वियोगी हरि के नाम आते हैं। दिनेश-नन्दिनी चौरड्या (अब डालमिया) ने गद्य-गीतों को इधर प्रमुख रूप से अपनाया। आज बहुत-से नवयुवक लेखक इस ओर मुड़े हैं जिनका परिचय पत्र-पत्रिकाओं से मिलता है। पुस्तकें अभी कम प्रकाश में आई हैं।

वियोगी हरि

वियोगी हरि की 'भावना' भगवान् के चरणों में अर्पित अनेक दलों का एक पूजा-पुष्प है। उनका ईश्वर कृष्ण रूप है। 'परिभाषा' शीर्षक गद्य-गीत दार्शनिक वादों के पारिभाषिक शब्दों का जमघटमात्र हो गया है और हरिजी ने यद्यपि खड़ी बोली में लिखा है और संस्कृत के शब्दों से उनकी भाषा स्थान-स्थान पर गरिष्ठ और बोझिल है, पर उनका ब्रजभाषा के भक्त कवियों का-सा है और वैसी ही उनकी अभि-व्यक्तियाँ हैं। अपने उपास्य को लेखक ने अनेक नामों से पुकारा है। उनमें 'सरकार' और 'प्यारे' उन्हें बहुत प्रिय हैं। वियोगी हरि जी माया के बन्धन से मुक्त होने की कामना करते हुए कृष्ण भक्तों के समान मुक्ति नहीं चाहते. कृष्ण के प्रेम का बन्धन ही चाहते हैं, प्राचीन भक्तों के समान ही उस माखन चोर को उन्होंने कस-कस कर उपालम्भ दिए हैं। रूपक और अनुप्रास के हरि जी बड़े प्रेमी हैं। यह पुस्तिका साहित्य के विद्यार्थियों के काम की चाहे उतनी न हो, पर मौजी कृष्ण भक्तों को इसमें रस आयगा।

"अपनी लाड़ली लली की एक लीला और सुन लो। किसी तरह मैंने अपना मन-मानिक मानसी-मंजूषा में बन्द करके रख छोड़ा था। किसे उसका पता था। पर तुम्हारी स्मृति ठहरी घट-घट वासिनी। उसे मेरे छिपाव का पता चल ही गया। बस, फिर उसे चुराते देर न लगी।"

भगवतीचरण वर्मा

'एक दिन' के गद्य-गीत चिन्तन-प्रधान हैं! जीवन-दर्शन का उनमें बड़ा हल्का स्पर्श है। इनमें से अधिकतर उस महापुरुष को सम्बोधित करके लिखे गए हैं। परन्तु प्रेम के रस से अछूते होने पर ये रहस्यवाद की कोटि में नहीं आते। कुछ गद्य-गीत प्रार्थना की श्रेणी में परिगणित होंगे। वर्मा जी अपने ही बुद्धि-जाल में फंसे निकास का कोई मार्ग नहीं देखते। इनमें 'पनघट' 'पुजारी' और 'कलाकार' वाली तीनों रचनाएं अत्यन्त मार्मिक हैं, क्योंकि ये सामयिक समस्याओं से सम्बन्ध

रखती हुई भी जीवन के सत्य को बहुत गहराई से छूती हैं।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

अज्ञेय के गद्य-गीत सबसे पहले 'भग्नदूत' संग्रह की कविताओं के साथ संगृहीत मिलते हैं। इसका पहला गीत 'इन्दु के प्रति' है जो दिसम्बर १९३० में लिखा गया। इसमें लेखक 'इन्दु' से कहता है

"मैं तुम्हारे कलंक से लाभ उठाकर तुम्हारे हृदय में स्थान पाना नहीं चाहता। अगर तुम्हारे मुख के उस कलुषित चिह्न की ओर बढ़ता हूँ तो केवल इसी इच्छा से कि उसे तुम्हारे मुख से हटाकर फिर तुम्हारे मुख के पवित्र सौंदर्य को देख सकूँ।"

'भग्नदूत' में २१ गद्य-गीत हैं जो अधिकतर प्रेम-भावना से प्रसूत हैं। जैसा प्रेम के प्रारम्भिक दिनों में होता है लेखक प्रेमिका के प्रति याचना और आदर का भाव प्रदर्शित करता है। कुछ गीत वृत्तियों के विश्लेषण में लिखे गए है। इन गीतों में भाव-मग्नता कम है, विचार-तत्व अधिक। गीत छोटे हैं, पर अन्तिम पंक्ति पर चमक उठते हैं। उसने नियति और ईश्वर का भी नाम लिया है, पर ईश्वर के प्रति जो दृष्टिकोण है उससे पता चलता है कि वह अपनी आस्था खो बैठेगा। एकाध गद्य-गीत बंदी जीवन से भी सम्बन्धित है। नारी पर जो लेखक ने अपनी भावना व्यक्त की है वह बड़ी रूढ़िबद्ध है। उदाहरण लीजिए:—

"हृदय पूछता है—प्रेम क्या है?

मन उत्तर देता है–प्रेम माया जाल है।

हृदय पूछता है—यह कैसा जाल है जिसमें मक्खी के साथ मकड़ी भी बद्ध हो जाती है?

मन हँस कर कहता है—जिस दिन तुम बद्ध होगे उसी दिन इसका उत्तर पा सकोगे।"

—पहेली

स्त्रियाँ कहती हैं, 'हमने तुम्हारा निर्माण किया है, हम तुम्हारी

अपेक्षा अधिक आदरणीया हैं।'

पुरुष उत्तर देते हैं, 'चित्र का आदर चित्रकार से अधिक होता है, यद्यपि चित्र का निर्माता वही होता है। हमारा ही गौरव अधिक है।'

—कला का गौरव

'चिंता' अज्ञेय का दूसरा काव्य-ग्रन्थ है जिसमें कविताओं के साथ गद्य-गीत संगृहीत हैं। पुस्तक के दो भाग हैं - "विश्व-प्रिया" और 'एकायन'।

'चिन्ता' एक विचार-बीज का अनेक भाव-कलिकाओं में प्रस्फुटन-मात्र है। परन्तु जितना बड़ा लक्ष्य लेखक ने अपनी दृष्टि के सामने रखा है, उसकी पूर्ति इन गद्य-गीतों में नहीं हो पाई। भूमिका में उसने घोषित किया है कि 'पुरुष और नारी का सम्बन्ध पति-पत्नी का नहीं, चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन स्त्री का सम्बन्ध --अनिवार्यतः एक गति-शील सम्बन्ध है। यही मूल संघर्ष 'चिन्ता' का विषय है।" परन्तु गद्य गीतों की आत्मा में झांकने से पता चलता है कि वे एक नारी विशेष को सामने रखकर लिखे गए हैं। यह व्यक्तिगत उदाहरण चिरन्तन पुरुष और चिरन्तन नारी का प्रतिनिधित्व किसी भी रूप में नहीं करता। अपने जीवन की घटना को अज्ञेय ने लिया है, वह भी स्वस्थ प्रेम की परिचायिका नहीं है, एक घुटन-मात्र-सी प्रतीत होती है। प्रेमालोक की छटा नहीं दिखाई देती, धुआँ दृष्टिगोचर होता है।

भूमिका में अज्ञेय ने स्पष्ट किया है, "पुस्तक के दो खण्डों में क्रमशः पुरुष और स्त्री के दृष्टिकोण से मानवीय प्रेम की कहानी कहने का यत्न किया गया है।" परन्तु सत्य यह है कि चिन्ता के दोनों भागों —विश्वप्रिया और एकायन —में प्रेम के सम्बन्ध में केमल पुरुष का, विशिष्ट पुरुष का, व्यक्ति अज्ञेय का दृष्टिकोण ही दिया गया है। दूसरे भाग से यह दृष्टिकोण बहुत अखरता है। वहां पुरुष आराध्य चित्रित किया गया है नारी उपासिकाः पुरुष विजयी घोषित किया गया है, नारी जिवितः पुरुष दानी माना गया है, नारी दान स्वीकार करने वालीः

गीतों में आध्यात्मिकता का पुट है वे अलग झलकते हैं। कुछ प्रेम के गीत ऐसे हैं जिनका अर्थ आध्यात्मिक पक्ष में भी घटित होता है, पर जो प्रणय सम्बन्धी गीत हैं वे लौकिक प्रेम के ही उदाहरण हैं। उन गीतों से यह झलकता है कि लेखिका किसी को प्रेम करती है। प्रेम उस ओर से भी मिला है। प्रेमी एक दिन छुटकारा चाहता है जो प्रेमिका को पसन्द नहीं। अन्त में प्रेमिका इस उच्च आदर्श पर अपनी आशा को टिकाए रखती है कि तुम चाहे औरों के लिए हृदय में स्थान दो, पर मेरे लिए यही क्या कम है कि मैं तुम्हें रात-दिन अपने हृदय में बसाये रखूं? महादेवी जी को पुस्तक समर्पित करते समय लेखिका ने जो यह लिखा है कि हृदय की पवित्र भावनाओं ने मेरे गीत गाये हैं' उससे सर्वथा सहमत होना कठिन है। एक उदाहरण लीजिए:—

"अलविदा कैसी? मैं तो तुझे नहीं जाने दूँगी!

क्या तेरे-मेरे प्रेम का यही अंत? गाढ़ आलिंगन, अंतिम चुम्बन और सदा के लिए विदा।

ना, ना, मैं तुझे न जाने दूँगी, न जाने दूँगी!

मैं तेरे सम्मुख अपना वक्ष—जिस पर तू शीश रखकर अनेक बार मीठी नींद सोया है—चीर कर रख दूँगी; तू······

प्रेम तेरे लिए दिलबहलाव का सरञ्जाम हो सकता है, परन्तु वह तो मेरे प्राणों का प्राण है।

आखिरी तस्लीम कैसी? मैं तो तुझे न जाने दूँगी—हरगिज न जाने दूँगी।

क्या तेरे-मेरे प्रेम का यही अंत? आलिंगन, चुम्बन और सदा के लिए विदा!!

ना, ना, मैं तुझे न जाने दूँगी!!!"

—शबनम

'दुपहरिया के फूल' के गद्यगीत विचारप्रधान अधिक हैं, भावप्रधान कम, अतः 'शबनम' की-सी सरसता इनमें नहीं है—यद्यपि 'शबनम'

के गीत भी बहुत सरस नहीं। बहुत-से गद्यगीत बहुत ही छोटे हैं। कहीं-कहीं तो एक वाक्य में ही समाप्त हो गए हैं। इसी से उनमें सूक्तियों का-सा चमत्कार तो है, पर प्राणों को रमानेवाली कला नहीं। लेखिका की भाववृत्ति बोधवृत्ति से यहाँ बोझिल होकर दब गई है, इसी से गद्यगीतों में स्पष्टता कम है। यद्यपि इसमें भी 'अग जग के स्वामी' को यहां वहां संबोधित किया गया है, पर प्रेम पार्थिव ही है। दूसरा तार बराबर झंकृत है। जहाँ जीवन की कोई समस्या गद्यगीत के पीछे है वहाँ वह मार्मिक हो गया है। लेखिका ने अपने को प्रायः राधा के रूप में देखा है। पर इन गद्य-गीतों में फारस के सूफी कवियों के सिद्धान्त वाक्य बहुत हैं:—

रूह आईना है और यह तन केवल उस पर आई हुई रज।

—दुपहरिया के फूल

'शारदीया' मौक्तिक माल, और शबनम के उपरांत चौरङ्या की तीसरी रचना है। ये गद्यगीत उस शक्ति के चरणों में निवेदित प्रणय-पुष्प हैं। लेखिका की दृष्टि इस दुःखमय जगत् से परे उस लोक पर है। वह कहीं वैष्णव, कहीं शैव, कहीं सूफी और कहीं वेदान्तवादिनी बनकर अपनो भावना को प्रकट करती है। जहां उसने अपने को गोपी रूप दिया है वहाँ भावों में मार्मिकता, भाषा में रस और अभिव्यक्ति में स्पष्टता अधिक है। सब मिलाकर दिनेश अपनी बात अस्पष्ट ढंग से अधिक कहती हैं। उसके बहुत-से प्रतीक अपने अर्थ में दुरारूढ़ और अनिर्दिष्ट हैं। ऐसी मार्मिक और स्पष्ट पंक्तियां बहुत कम हैं:—

न पी, न पीना ही अच्छा होगा।
पीकर पिलाने वाली को भूल जायगा।

—शारदीया

'उनमन' भी दिनेशनंदिनी के मिले-जुले गद्यगीतों का संग्रह है जिसमें अधिकता आध्यात्मिक गीतों की है। आध्यात्मिकता या तो

कल्पना प्रसूत है या ज्ञानसंचय संबंधी। उनमें वह सरसता नहीं है जो अनुभूति से उत्पन्न होती है। लेखिका का एक पैर इस लोक में है, दूसरा उस लोक में, मन यहाँ है, बुद्धि वहां, वासना की अभिव्यक्ति के लिए राधा-कृष्ण की आड़ में लेखिका खड़ी हो जाती है। संसार में हिंसा, शोषण और अत्याचार को देखकर वह दुःखी होती है जिसकी बड़ी क्षीण-सी अभिव्यक्ति यहाँ-वहाँ है, लेखिका क्रांतिकारियों की पंक्तियों में न जाकर मानवता की स्थापना की प्रार्थना करती है, 'उनमन' की भाषा अन्य ग्रन्थों से अधिक प्रौढ़ है और विदेशी शब्दों का प्रयोग नहीं के बराबर रह गया है, अब्र, नूर, तूफान जैसे शब्द ही कहीं-कहीं दिखाई देते हैं। अभिव्यक्ति अब भी बहुत स्पष्ट नहीं है। जहाँ स्पष्टता जितनी अधिक है वहाँ उतनी ही मार्मिकता है। उदाहरण—

"उस दिन चाँदनी फूलों से हँस रही थी। उन्होंने पन्ने को गलाकर पानी में घोल दिया और मुझे संकेत से बुला जल-विहार के लिए नौका छोड़ दी।

मैं निशा का यौवन पी संगीत की कड़ियाँ खोल रही थी, तब सहसा मेरा अंचल पकड़ वे बोले—

"प्यार करती हो रानी मुझे?"
" नहीं " ....
"न.........हीं? तब..."

तुम्हारे पुरुषत्व को जिसके बिना नारी का जीवन अधूरा है, भारी है, असहाय है, विकल है।

जय, उल्लास और गर्व से उनकी आँखें भर गईं। तब मैं उनके हाथों से डांड़ लेकर नौका स्वयं खे चली!!"

—उनमन

इस प्रकार दिनेशनंदिनी चौरड्या ने भावाभिव्यक्ति के लिए गद्यगीतों को ही विशेषरूप से अपनाया है। शबनम, मौक्तिकमाल, शारदीया, दुपहरिया के फूल और उनमन उनके गद्य-गीतों के संकलन

अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इन संग्रहों में एक दूसरे से पृथक् करने वाली कोई विशिष्टता लक्षित नहीं होती। सभी में कुछ प्रेम सम्बन्धी कुछ आध्यात्मिक, कुछ प्रकृति सबंधी कुछ-कुछ जीवन संबंधी गद्यगीत पाये जाते हैं जिनमें दीन-दुखियों का जीवन भी आ गया है।

इन ग्रन्थों में 'शबनम' की भाषा बहुत खटकने वाली है। इसमें फारसी शब्दों का प्रयोग अति की मात्रा में हुआ है। जहाँ भाव को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त शब्द न मिले वहाँ तो विदेशी शब्द का प्रयोग क्षम्य है पर जान-बूझकर ऐसे शब्दों का प्रयोग जिन्हें हिंदी पाठक न समझ सकें कहाँ तक उचित है, कहा नहीं जा सकता। मुहाल, ताहम, अम्बार, अकीदा, जुस्तजू अफसुर्दगी आदि से आगे बढ़ दिले पुरदर्द, गर्दिशे दौरा, दीदये उल्फत आदि की चटक दिखाई देती है। इनसे भी संतोष न हुआ तो वाक्य-के-वाक्य ही फारसी रंग में रँगे हैं जैसे 'हुस्ने सनम पर फिदा होना' 'उम्मीद पर जिन्दगी का कायम होना' और 'खामोश लबों पर बेहोशी की शिकन' पड़ना। उनमन में यह प्रवृत्ति कम हो गई है।

रामप्रसाद विद्यार्थी

विद्यार्थी की 'पूजा' के गीत एक शिष्ट हृदय के निवेदन-गीत हैं। इनके सम्बन्ध में सहसा यह निश्चय करना कठिन है कि ये गीत लौकिक हैं या आध्यात्मिक, लौकिकता की गन्ध इनमें बहुत ही क्षीण है। मेरा विचार है कि लेखक प्रभावित तो किसी लौकिक मूर्ति से ही हुआ है, पर उसने उसे अलौकिकता से मंडित कर दिया है, अपने हृदय की भावनाओं को उसने अत्यन्त संयम से व्यक्त किया है। इन गीतों में विह्वलता के अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन नहीं पाए जाते। भाषा सरल है, पर वह रस-पगी नहीं है। उसमें वह आभा नहीं है जो आज के गद्यगीत की विशेषता है। इन गीतों पर हठयोग का थोड़ा प्रभाव है जो रामप्रसाद के दयालबागी होने के कारण अनिवार्य था—

"जब मैं अपने गोखार गिरि की गुफा में बैठकर अपने शरीर के

चारों ओर एक हल्की चादर तान लेता हूँ, तब दिशाओं की चादरें जिन्होंने अपने संकरे घेरे में मुझे बन्द कर रखा है—अपने-आप फट जाती हैं।

मैं तुम्हारे दिये हुए अपने अज्ञात परों को फैलाकर अपने अँधेरे—किन्तु विस्तृत आकाश में, तुम्हारी टोह में उड़ चलता हूँ।

जब मैं उड़ते-उड़ते थककर निराश होने लगता हूँ तब मेरे अंधेरे किन्तु विस्तृत आकाश में से चार सितारे चमक उठकर तुम्हारी ओर से किसी सान्त्वनाप्रद आदेश का संकेत करते हैं।"

—पूजा

जगदीश

'छाभा' के गद्यगीतों से लेखक की भावुकता, विचार-गंभीरता और अन्तर्दृष्टि तीनों टपकती हैं। जगदीश के गद्यगीतों का क्षेत्र व्यापक है। विज्ञान और इतिहास को देखने का इनका दृष्टिकोण अपना है। अपने बहुत-से गद्यगीतों में वे मानवता के उदार पोषक के रूप में हमारे सामने आते हैं। जिन दृश्यों से हम प्रायः दृष्टि फेर लेते हैं उनके भीतर से जगदीश जी की प्रतिभा बड़ी उदारता से काव्योपयोगी सामग्री का चयन करती है और व्यंग्य उनके अत्यन्त पैने और शिष्ट होते हैं। इनके गद्यगीतों में व्यंजना कहीं-कहीं दूरारूढ़ है। पर आच्छादित नहीं होगई। 'छाभा' के गीत प्रायः अभाव के गीत हैं जिनसे विषाद बरसता है और जो पाठक के मन को बहुत भारी करते हैं। उनका वातावरण घोर सूनेपन का अवसादभरा अश्रु सिक्त अञ्चल है। भावाभिव्यक्ति के लिए प्रायः प्रतीकों का आधार जगदीश जी लेते हैं। ये प्रतीक चाहे कितने ही चिर-परिचित हों, जैसे यामा, नक्षत्र, भिखारी, दाता, भिक्षापात्र के वे सदैव लेखक की कोमलतम व्यंजना-प्रधान कला के पूर्ण अनुशासन में चलते हैं।

ब्रह्मदेव

'निशीथ' छोटे-छोटे ३५ गद्यगीतों की पुस्तिका है। ये गीत अर्चना

के गीत हैं—उस परम पुरुष को समर्पित । लेखक उसे कभी प्रभु, कभी स्वामी, कभी पिता, कभी बन्धु, कभी प्रिय और कभी अन्तर्यामी के नाम से संबोधन करता है । प्रकृति को मुक्त और व्यापक रूप में लेखक ने ग्रहण किया है । प्रतीकों में नदी के प्रतीक उसे बहुत प्रिय हैं और ये गीत कल्पना के ताने-बाने से अधिक बुने गए हैं और कल्पना भी अत्यन्त सूक्ष्म आधारों पर आधारित है, अतः वे एक धुँधला-सा चित्र सामने लाते हैं । पाठक यदि लेखक के समान ही कल्पनाशील नहीं है तो इनके चित्रों को ग्रहण नहीं कर सकता । कल्पनाएं कोमल हैं और रम्य भी, इच्छा होती है कि वे अधिक ठोस होतीं—

"रजत-रश्मि की चादर ओढ़ कर जब तारिकाएँ चाँद के साथ नृत्य आरम्भ करेंगी और जब सिन्धु की लहरों पर पार के उद्यान का संगीत तिरता रहेगा । तब हमें अपने पितृ-मन्दिर का स्वर्ण-कलश दिखाई देगा ।"

—निशीथ

राजनारायण मेहरोत्रा 'रजनीश'

गद्यगीतों की पुस्तकों में 'आराधना' जैसी सरल पुस्तक शायद ही दूसरी मिले । जो बात है सीधे-सीधे कह दी गई है, व्यंजना का सहारा नहीं लिया गया । लेखक अत्यन्त निश्छल स्वभाव का है । मन में पवित्रता उमड़ती है तो उसे प्रकट करता है और वासना उमड़ती है तो उसे भी नहीं छिपाता । सरलता ही इन गद्यगीतों की कला है । यौवन की पूरी नादानी इन गद्यगीतों में चित्रित है । एक चित्र देखिए—

"तुम्हें याद रहेंगी ये बातें !
जब तुम्हारे पास आता था ।
तुम मधुर मुस्कान से
मेरा स्वागत करती थीं ।
मैं कभी मान करता था
तो तुम मुझे मना लेती थीं !

और मेरा मनाना भी
तुम कभी न भूलोगी !
जब मैं डरते-डरते, आहिस्ता पग रखते हुए
छिपकर तुमसे मिलने आता था
जब तुम भी चोरी से मिल जाती थीं,
और दे जाती थीं
ऐसा मीठा चुम्बन !
एक शांतिप्रद आलिंगन !
तुम्हें ये बातें याद रहेंगी !!" —आराधना

शिवचन्द्र नागर

'प्रणय-गीत' शिवचन्द्र नागर के ३८ गद्यगीतों का संग्रह है। ये गीत प्रणय के गीत हैं--लघु-लघु कोमल-कोमल। युवक कवि किसी के रूप और ममता से प्रभावित होता है। उसे प्राप्त करना चाहता है, पर कर नहीं पाता। उससे बिछोह होता है और तब वह प्रतीक्षा काल में आँसू बहाता है। अन्त में इस सान्त्वना में अपनी बात समाप्त करता है कि 'फिर मिलेंगे।' लेखक ने अपने प्रेम को यद्यपि 'आवेश-रहित' बतलाया है, पर आवेश इन गीतों में बहुत है-इनके भावों में ही नहीं, अभिव्यंजना में भी। वह 'नग्न सौन्दर्य' देखना चाहता है, 'यौवन शत-दल' छूना चाहता है 'चुम्बन' और 'परिरंभण' के लिए समय पूछता है। इतना होते हुए भी इस प्रेम में स्वार्थ की गन्ध नहीं है और यह व्यक्ति स्वाभिमानी प्रतीत होता है। इन रचनाओं में उस ओर के प्रेम को भी व्यक्ति मिली है। हृदय ऐसा भरा हुआ है कि एक-एक बात के लिए शब्दों की झड़ी बाँध देना—लेखक की शैली ही बन गई है।

'तुम बन्दी हो—मेरे जीवन में, मेरे नयनों में, पलकों में, प्राणों में, लहरों में, गानों में, अच्छा होता यदि मैं बन्दीगृह होती।'

'तुम कुसुम-सी सुन्दर हो; हीरक-सी कठोर हो, ज्योत्स्ना-सी शीतल हो, विद्युत्-सी चञ्चल हो, नीहारिका-सी दूर हो।" —प्रणय-गीत

★